संस्कृति

अंक—16, अर्द्धवार्षिक—2009

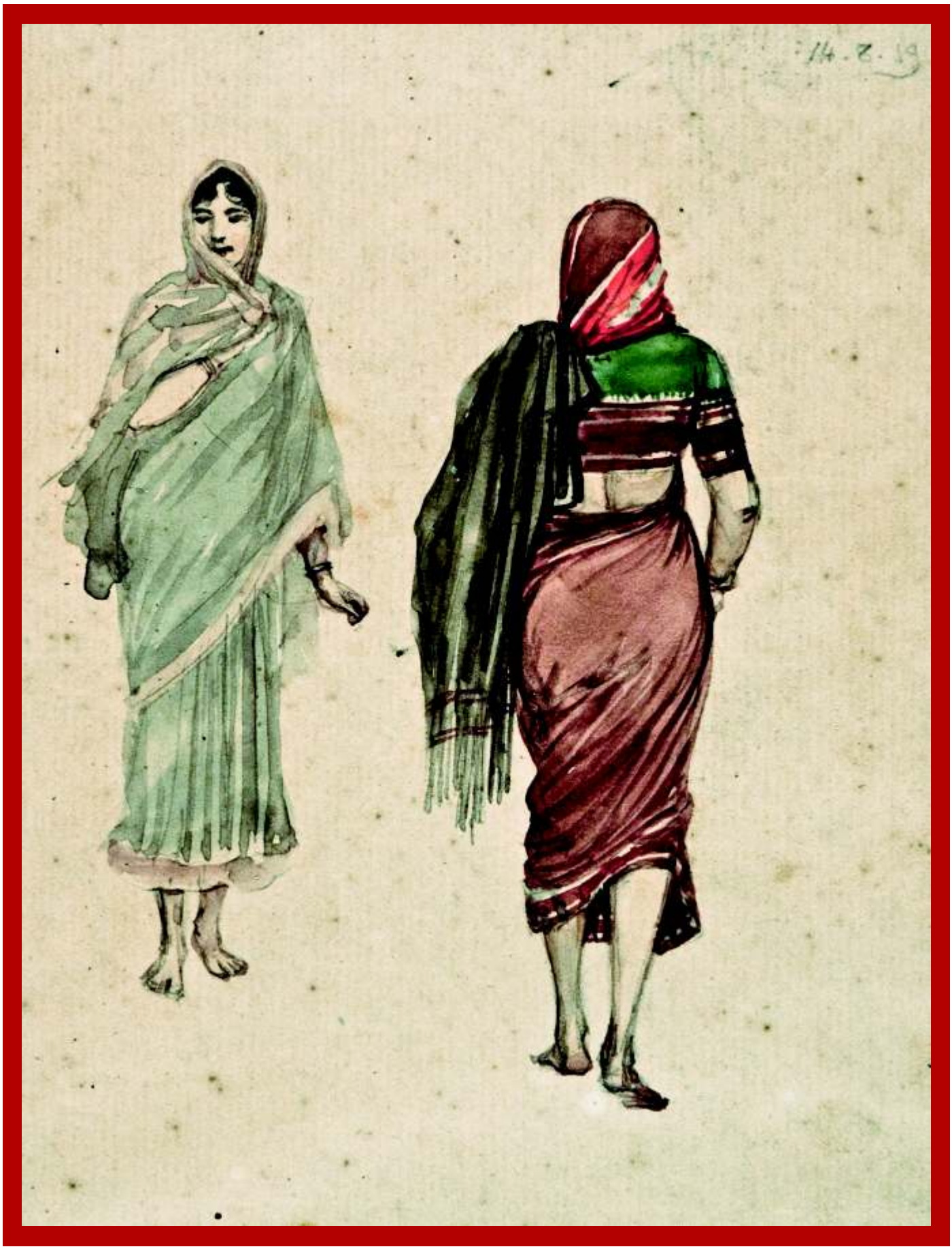

एम वी धुरंदर, दो मराठा महिलाएं, कागज पर जलरंग (13.5x17.5 से.मी.), सौजन्य–राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, दिल्ली

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

संरक्षक :
जवाहर सरकार, सचिव, संस्कृति मंत्रालय

परामर्शदाता :
लव वर्मा, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय
निहाल चन्द गोयल, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय
विजय एस मदान, संयुक्त सचिव, संस्कृति मंत्रालय

सम्पादक :
भारतेश कुमार मिश्र, संयुक्त निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

उप सम्पादक :
मीमांसक, उप निदेशक, संस्कृति मंत्रालय

प्रशासनिक सहयोग :
डी. आर. डोगरा, निजी सचिव, संस्कृति मंत्रालय
अवध निगम, सहायक निदेशक, संस्कृति मंत्रालय
सतीश गुप्ता, राजेन्द्र यादव, हेमचन्द्र झा, अखिलेश, ब्रज किशोर
राजीव प्रताप, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

वर्ष 2009 : (पूर्वार्द्ध)

अंक : 16 : तीन हजार प्रतियां

केवल नि:शुल्क सीमित वितरण के लिए
मंत्रालय की वेब साइट www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध

मुख्य आवरण :
साँची तोरण द्वार का बौद्ध प्रतीक चिह्नों वाला शीर्ष
फोटो: मीमांसक

अंतिम आवरण :
एंटोनियो जेवियर त्रिनदाद (1870–1935),
'फूलदान लिए हुए लड़की
साभार–राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, दिल्ली

सम्पादकीय पता :
209–डी विंग, शास्त्री भवन,
डॉ राजेन्द्र प्रसाद मार्ग,
नई दिल्ली–110001
टेली–फैक्स : +911123383032
ई–मेल : dirol-culture@nic.in
dirol-culture@live.in

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

सत्यमेव जयते

संस्कृति मंत्रालय

भारत सरकार
शास्त्री भवन, नई दिल्ली–110001

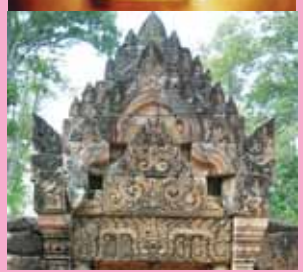

अनुक्रम

पुरातात्विक उत्खनन, बेसनगर (विदिशा)
डॉ. नारायण व्यास
1 [प्राचीन विदिशा की धरती के गर्भ में छिपे इतिहास की परतें खोलता गवेषणात्मक लेख]

कलचुरि कालीन साँस्कृतिक इतिहास (नोहटा)
डॉ. सुरेन्द्र कुमार चौरसिया
[कलचुरि कालीन सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में दमोह जिले के नोहटा मंदिर की कला व स्थापत्य का उद्घाटन]
6

रामनगर महल और उसकी चित्रकारी
ए.के. खन्ना
8 [जम्मू के इस प्रसिद्ध महल की दीवारों पर अंकित चित्रों के अद्भुत संसार से रू-ब-रू कराता लेख]

हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति
सुदर्शन वशिष्ठ
12 [हिमाचल की गद्दी जनजाति के सामाजिक रीति-रिवाजों एवं व्यवहारों पर आलेख]

बूंदी का कडाली तीज मेला
दिनेश विजयवर्गीय
17 [चटख रंगों वाले राजस्थान के बूंदी क्षेत्र के कडाली तीज मेले का रोचक शब्द-चित्र]

मिथिला और बंगाल का सांस्कृतिक संबंध
हेमचन्द्र झा
20 [मिथिला एवं बंगाल के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अंतर्संबंधों की व्याख्या]

संस्कार एवं संस्कृति, साइबेरिया के मनोगगन में
डॉ. लोकेश चन्द्र
23 [भारत और सुदूर साइबेरिया के बीच समान आत्मीय सूत्रों को टटोलती संस्मरणात्मक गवेषणा]

कम्बोडिया के प्राचीन अभिलेखों में धार्मिक दान का पारम्परिक एवं वैधानिक स्वरूप
डॉ. (श्रीमती) अंशुमाला
28 [कम्बोडिया के दान पत्रों में छिपे सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थ का उद्घाटन]

रॉस द्वीप का रोमांच
असग़र वजाहत
[प्रकृति की गिरफ्त में अंदमान के इस सोए द्वीप की जादुई कथा] **31**

नटराज उदयशंकर के घुंघरुओं का जादू
राजेन्द्र उपाध्याय
[नटराज उदयशंकर के व्यक्तित्व और काल के कतिपय रोचक एवं मार्मिक पहलुओं को शब्दबद्ध करता आलेख] **33**

संस्कृत वाङ्मय के अनुसंधाता एवं भारतविद् — प्रो. मैक्समूलर
जगदीश प्रसाद वरनवाल 'कुंद'
[दुनियाँ को भारत की बौद्धिक गहराइयों से परिचित कराने वाले व्यक्तित्व-कृतित्व का शब्दांकन] **37**

दक्खिनी हिन्दी : इतिहास के परिप्रेक्ष्य में
रोहिताश्व
[उत्तर एवं दक्षिण के सामाजिक-ऐतिहासिक मेलजोल से पनपी इस अनूठी भाषा की मिठास को उकेरती एक तलाश] **44**

प्रखर व्यक्तित्व के धनी संत कबीर
डॉ. महीप सिंह
[कबीर के प्रखर क्रांतिकारी चिंतन की उनके काल के परिप्रेक्ष्य में पुन: पड़ताल] **51**

भारतवर्ष का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और उर्दू
दरख़शाँ ताजवर ''कायनात''
[भारत की ज़मीन पर पैदा हुई और फली-फूली उर्दू भाषा में छिपे आज़ादी की लड़ाई के चंद अनकहे अध्यायों पर दृष्टिपात] **55**

वृद्धावस्था और मानवीय संस्कृति
विश्व मोहन तिवारी
['हर वृद्ध एक पुस्तकालय की तरह होता है' - इस कहावत की भारतीय परिप्रेक्ष्य में बौद्धिक पड़ताल] **60**

पर्यावरण संरक्षण वेदों की मूल संस्कृति
कमला कान्त पाण्डेय
[जीवन-दर्शनजन्य असंतुलन से पर्यावरण पर मंडरा रहे खतरों के परिप्रेक्ष्य में भारतीय चिंतन सूत्रों की नवीन व्याख्या] **65**

भित्ति चित्रकला वैभव
डॉ. वंदना वर्मा
[उत्तर प्रदेश के मुख्य रूप से सहारनपुर जिले के मंदिरों के भित्तिचित्रों के अद्भुत संसार का उद्घाटन] **70**

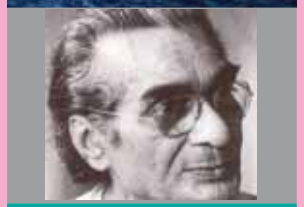

सम्पादकीय

हमारे विशाल देश के प्रत्येक क्षेत्र का रहन-सहन, रीति-रिवाज़, खान-पान भिन्न है और ये क्षेत्र अपनी इस भिन्नता और पृथकता की रक्षा करने का प्रयास भी करते हैं, परन्तु इतनी विविधता होते हुए भी कुछ तत्व ऐसे हैं जो इसे एकता के धागे में पिरोए हुए हैं। एकता के इन्हीं तत्वों से उस चीज का आविर्भाव होता है, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' कहते हैं। आज इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि एकता के उन तत्वों की जांच की जाए जिन्हें भारत के लिए सार्वजनीन कहा जा सकता है और जिन्हें 'सभी' अपना कह सकते हैं और तभी हम उस 'अपनत्व' को और अधिक पल्लवित और परिवर्धित करने में सफल हो सकेंगे।

'संस्कृति' की यह नीति रही है कि वह सांस्कृतिक विचारों के वहन का एक माध्यम बने। 'संस्कृति' स्रोतवाहिनी की सफलता तभी है जब जनसाधारण उससे शीतलता और तृप्ति लाभ प्राप्त करे। 'संस्कृति' के दुकूल का निर्माण कला और चिन्तन के जिस ताने-बाने से किया जाता है उसकी परिणति जनसाधारण द्वारा चेतना के स्तर पर उसके अंगीकार में ही निहित है।

इस अंक में भारत की संस्कृति के माध्यम से अभिव्यंजित देश के विभिन्न भागों की विशेषताओं और अनेकता में एकता को अभिव्यक्त करने वाली भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों को व्याख्यायित और विश्लेषित करने वाले लेख तो दिए ही जा रहे हैं, साथ ही संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीय छटाओं को शब्दबद्ध करने वाले आलेख भी हैं।

प्रस्तुत अंक में समाविष्ट भारतीय संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कतिपय लेखों पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। श्री राजेन्द्र उपाध्याय ने 'नटराज उदय शंकर के घुंघरुओं का जादू' में पंडित उदय शंकर के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचनात्मक और रोचक वर्णन किया है। श्री जगदीश प्रसाद वरनवाल 'कुंद' का लेख 'संस्कृत वाङ्मय के अनुसंधाता एवं भारतविद् - प्रो. मैक्समूलर' आधुनिक काल के नवजागरण के इतिहास को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। 'वृद्धावस्था और मानवीय संस्कृति' नामक लेख समाज को वृद्धों के प्रति संवेदनशील बनाता है। विभिन्न पक्षों पर कुछ अन्य महत्वपूर्ण लेख भी इस अंक में सम्मिलित किए गए हैं। आशा है ये सब भी पाठकों को रुचिकर लगेंगे। 'संस्कृति' आपकी अपनी पत्रिका है। हम आपकी अपेक्षाओं के अनुरूप बन सकें - इसके लिए आपके सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

- सम्पादक

पुरातात्विक उत्खनन, बेसनगर (विदिशा)

डॉ. नारायण व्यास

बेसनगर के पुरावशेष विदिशा रेलवे स्टेशन से लगभग तीन किलोमीटर पश्चिम में स्थित हैं। यह स्थल प्राचीन काल में महत्वपूर्ण राजनीतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक केन्द्र हुआ करता था। यहां से कई राजमार्ग पाटलीपुत्र से उज्जैन तथा श्रावस्ती से प्रतिष्ठान की ओर जाते थे। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में यह उज्जयिनी महाजनपद का समृद्धशाली नगर था। विदिशा, धसान नदी (प्राचीन दशार्ण नदी) क्षेत्र में स्थित था और दशार्ण प्रदेश की राजधानी रहा। दशार्ण प्रदेश की तलवार तथा यहां के लौह हथियार प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साहित्य तथा अभिलेख एवं मुद्राओं में इस क्षेत्र का वर्णन पाया जाता है। बेसनगर के प्राचीन नाम बेस्सनगर, बेसनगर, स्वामिपुर, वैश्यनगर, विश्वनगर, विदिशा, वेदसा, भैलसा, भिल्लर थे। ऐसा माना जाता है कि वनवास के समय श्रीराम यहां आए थे तथा यह स्थल चरण तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण में उल्लेख मिलता है कि राम के सबसे छोटे भाई शत्रुघ्न ने अपने पुत्र शत्रुधत्ति को विदिशा का राज्य दिया था। प्राचीन भारतीय शब्दकोश में आधुनिक बेसनगर का नाम

बेसनगर क्षेत्र में समय-समय पर किए गए पुरातात्विक सर्वेक्षण के आधार पर यह तो निश्चित हो गया है कि पाषाणकालीन संस्कृति के अवशेषों से लेकर मध्यकालीन संस्कृति तक के अवशेष लगातार क्रमबद्ध प्रकाश में आए।

विश्वनगर बताया गया है। ऐसा माना जाता है कि इस नगर को सूर्यवंशी राजा रूकमांगद ने बसाया था। विष्णु का विमान यहीं रुका था। सम्राट बनने से पूर्व अशोक विदिशा तथा उज्जैन के राज्यपाल थे। उसने विदिशा के सेठ की पुत्री देवी से विवाह किया था। उसके पुत्र महेन्द्र तथा संघमित्र सांची से बौद्ध धर्म का प्रचार करने सर्वप्रथम श्रीलंका गए थे। अशोक ने अपनी पत्नी देवी के आग्रह पर वेदिसगिरि (सांची) पर स्तूप का निर्माण करवाया था। प्राचीन समय में सांची भी बेसनगर का महत्वपूर्ण अंग था। बेसनगर स्थित हिलियोडोरस स्तंभ (खामबाबा) से वैष्णव धर्म के विषय में जानकारी प्राप्त होती है तथा ऐसा भी ज्ञात होता है कि विदिशा में भागभद्र के दरबार में तक्षशिला से

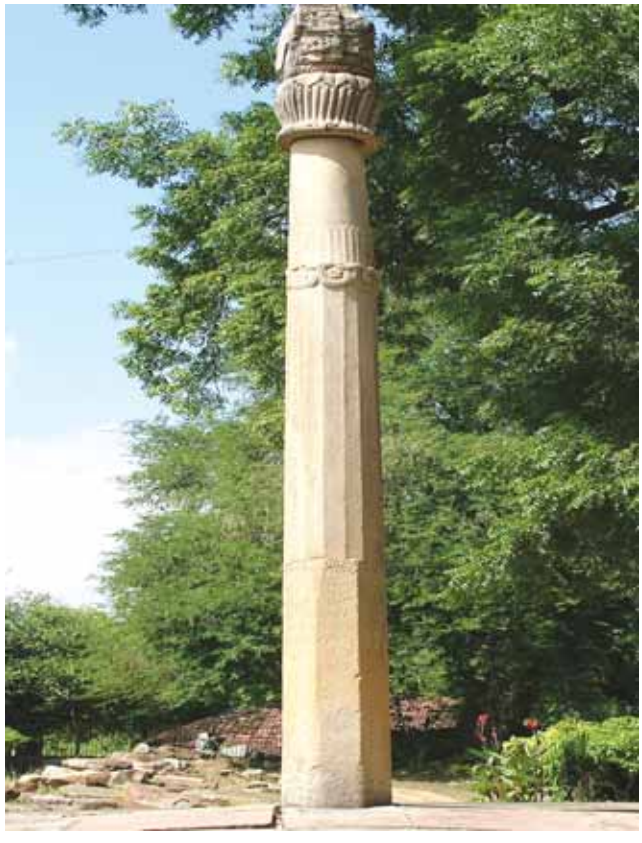

विदिशा स्थित हिलियोडोरस स्तंभ (खामबाबा)

यवनदूत हिलियोडोरस आया था और उसने वैष्णव धर्म की अच्छाइयों को देखकर भागवत धर्म स्वीकार कर विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया तथा गरुड़ स्तंभ की स्थापना की थी। मगध के शासक पुष्यमित्र शुंग के समय विदिशा पश्चिम क्षेत्र की राजधानी मानी जाती थी। शुंगकाल में सांची के स्तूप का विकास हुआ था। विदिशा (बेसनगर) में हाथी दांत का कार्य अधिक होता था। साँची स्तूप की चारों दिशाओं में तोरण द्वार निर्मित किए गए जो हीनयान कला के महत्वपूर्ण उदाहरण माने जाते हैं। कालिदास रचित मेघदूत तथा मालविकाग्निमित्रम में इस क्षेत्र की

भौगोलिक तथा तत्कालीन घटनाओं का वर्णन किया गया है। उन्होंने वेत्रवति (बेतवा) का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥26॥ पूर्वमेघः

बेसनगर का क्षेत्र सातवाहन, कुषाण, पद्मावती (पवाया) के भारशिव नागवंशी शासकों के अन्तर्गत रहकर बहुत ही विकसित हुआ। गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय की मालवा विजय के उपलक्ष्य में विदिशा के निकट उदयगिरि में गुफाओं का निर्माण हुआ जिनके अभिलेख गुफाओं में देखने को मिलते हैं। बेसनगर के दुर्जनपुरा से प्राप्त रामगुप्त के समय की तीन जैन प्रतिमाओं की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख से गुप्त सम्राट रामगुप्त के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिली है। विदिशा के भैलसा नाम से यह निष्कर्ष निकाला गया कि बेतवा के तट पर भिल्लस्वामी (सूर्य) का विशाल मन्दिर था, परन्तु यह मन्दिर कहाँ था, ज्ञात नहीं हो सका है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् विदिशा बेसनगर से हटकर वर्तमान विदिशा क्षेत्र में बस गया, जिसका विकसित स्वरूप आज

बेतवा तट पर स्थित प्राचीन टीले

विद्यमान है। प्रतिहार, परमार तथा मालवा के सुल्तानों के पश्चात् विदिशा का यह क्षेत्र ग्वालियर के मराठा शासकों (सिंधिया) के अन्तर्गत आकर बहुत विकसित हुआ। नया विदिशा बसने का एक प्रमुख कारण यह भी माना जाता है कि बेस तथा बेतवा में निरन्तर बाढ़ आती रही। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा इस क्षेत्र में कई स्थानों पर किए गए पुरातात्विक उत्खनन से ये तथ्य उजागर हुए हैं। साथ ही मिट्टी की विभिन्न परतों में जले हुए अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इन उत्खननों से प्राचीन इतिहास के विषय में ठोस प्रमाण मिले, जिनसे विभिन्न युगों की सभ्यताएं प्रकाश में आईं।

आजादी से पूर्व ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग द्वारा किए गए उत्खनन से प्राप्त पुरावशेष ग्वालियर, विदिशा तथा अन्य संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र की विश्व प्रसिद्ध प्रतिमाएं भारतीय संग्रहालय, कोलकाता में भी देखी जा सकती हैं। इनमें प्रमुख शुंगकालीन कल्पवृक्ष तथा यक्षी प्रतिमा है। शैली के आधार पर ये प्रतिमाएं लगभग बाईस सौ वर्ष प्राचीन मानी जाती हैं।

बेसनगर क्षेत्र में समय-समय पर किए गए पुरातात्विक सर्वेक्षण के आधार पर यह तो निश्चित हो गया है कि पाषाणकालीन संस्कृति के अवशेषों से लेकर मध्यकालीन संस्कृति तक के अवशेष लगातार क्रमबद्ध प्रकाश में आए। शैलाश्रयों तथा उनके आसपास पूर्व, मध्य तथा उत्तर पुरापाषाणकालीन उपकरण प्रचुर मात्रा में पाए गए हैं।

उत्खनन से प्राप्त प्राचीन भग्नावशेष, भूमिगत नालियां

मध्यप्रदेश में विशेष रूप से बेनसनगर क्षेत्र के अन्तर्गत ताम्राश्मकालीन अवशेषों में आहाड़ तथा मालवा सभ्यता के अवशेषों एवं उस समय के मृद्‌भाण्डों का मिलना महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु बेसनगर से महाभारतकालीन चित्रित धूसर मृद्‌भाण्डों का मिलना भी महत्वपूर्ण है। पलवल, दिल्ली, मथुरा, कुरुक्षेत्र, अहिछत्र, हस्तिनापुर, रूपड़, कोटला निहंग, मुरैना जिले में कोतवार, गिलुलीखेड़ा इत्यादि स्थलों पर चित्रित

उत्खनन से प्राप्त ताम्राश्मयुगीन मृद्‌भाण्ड, लगभग सोलहवीं शताब्दी ई. पूर्व

धूसर मृदभाण्ड उत्खनन से एवं ऊपरी सतह पर पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उज्जैन के आस-पास वैश्या टेकरी क्षेत्र में तथा संदीपनी आश्रम के आस-पास भी ऊपरी सतह पर इस प्रकार के मृद्‌भाण्ड सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त हुए हैं। ये मृद्‌भाण्ड लौह युग अथवा महाभारतकालीन संस्कृति के विकास के सूचक हैं। परन्तु बेसनगर में चित्रित धूसर मृदभाण्डों का उत्खनन में मिलना अत्यंत महत्वपूर्ण है। हरियाणा, पंजाब में हड़प्पाकालीन मृद्‌भाण्डों के साथ चित्रित धूसर मृद्‌भाण्ड मिलना आश्चर्यजनक होने के साथ-साथ महत्वपूर्ण भी है। बेसनगर में ताम्राश्मयुगीन संस्कृति के मृद्‌भाण्डों के साथ चित्रित धूसर मृद्‌भाण्डों का मिलना भी उतना ही आश्चर्यजनक है, जो ताम्राश्मयुग की समाप्ति के साथ साथ लौह युग अथवा महाभारतकालीन संस्कृति का प्रारंभ दर्शाता है।

प्रो. बी. बी. लाल का मानना है कि ''रूपड़, कोटला निहंग इत्यादि स्थलों पर हड़प्पा संस्कृति के मृदभाण्डों के साथ चित्रित धूसर मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं।'' इसके साथ ही पुरातात्विक सर्वेक्षण के अन्तर्गत मुरैना जिले में एक ओर कायथा मृद्‌भाण्ड मिले हैं वहीं दूसरी ओर इस जिले में चित्रित धूसर मृदभाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। डॉ. वाकणकर कायथा मृदभाण्ड को हड़प्पा से पहले का मानते थे। यदि हम विचार करें तो बेसनगर उत्खनन से स्पष्ट हो गया है कि यहाँ ताम्राश्मयुगीन मृदभाण्डों के साथ चित्रित धूसर मृदभाण्ड भी प्राप्त होते हैं। एक ओर बेतवा तट पर स्थित रंगई स्थल से आहाड़, मालवा, नवाश्मयुगीन मृदभाण्ड एवं अवशेषों के साथ नवाश्मयुगीन ''सेल्ट'' मिला है, वहीं दूसरी ओर बेतवा तट पर ताम्राश्मयुगीन संस्कृति के मृदभाण्ड, नवाश्मयुगीन ''सेल्ट'' तथा चित्रित धूसर मृदभाण्ड मिले हैं। यह हो सकता है कि ताम्राश्मयुगीन संस्कृति के अंतिम चरण के साथ ही चित्रित धूसर मृदभाण्डों का प्रयोग प्रारंभ हो गया हो। बेसनगर के पश्चिम में शुंगकालीन सुरक्षा दीवार के नीचे स्तर पर जो मौर्यकाल तथा उसके

उत्खनन से प्राप्त प्राचीन मृणमूर्तियाँ

पहले का स्तर है, उसके भी नीचे केवल चित्रित धूसर मृदभाण्डों के कई टुकड़े, जो उत्तम श्रेणी के थे, प्राप्त हुए। रंगई उत्खनन में डॉ. वाकणकर बेसनगर आए थे। उनका कहना था कि यहाँ कायथा मृदभाण्ड मिलना चाहिए, परन्तु न मिलने पर उन्होंने बताया कि भाविष्य में उत्खनन किया जाए तो कायथा मृदभाण्ड अवश्य मिल सकते हैं।

बेसनगर से एक महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है, कि उत्तरी काले ओपदार मृदभाण्ड मौर्यकाल तथा कुछ बाद तक इनका निर्माण होना बंद हो गया था। इनके टूट जाने पर इन्हें तांबे की रिबिट तथा पत्ती से जोड़ा जाता था। उत्खनन में इन मृदभाण्डों की भग्न पत्ती भी प्राप्त हुई, जिससे वह जोड़े गए थे। बेसनगर कई बार बाढ़ तथा अग्निकाण्ड से उजड़ा तथा पुन: बसा, जिसके प्रमाण यहाँ के युगयुगीन टीले हैं। यहां के निवासी बहादुर थे, फिर भी बाढ़, अग्निकाण्ड तथा युद्ध की

बार-बार परेशानी के पश्चात् वर्तमान विदिशा में एक विशाल दुर्ग का परकोटा निर्मित कर बस गए थे, जिसके प्रमाण प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। इसके बावजूद भी खामबाबा क्षेत्र में बसावट निरन्तर वर्तमान युग तक चलती रही।

बेसनगर उत्खनन में लौह सामग्री अधिक मात्रा में प्राप्त हुई जो प्राचीन समय की तकनीक का एक सफल उदाहरण है। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि दशार्ण प्रदेश में विशेष रूप से बेसनगर में लौहयुग का प्रारंभ हो गया था तथा लोहे की वस्तुएं तथा हथियार निर्मित किए जाने लगे थे। वैसे विदिशा तथा एरकछ (झांसी के निकट) की तलवारें प्रसिद्ध थीं। खामबाबा के निकट विष्णु मन्दिर के अवशेषों में काष्ठ स्तंभों को सीधा खड़ा करने के लिए उनके नीचे टेक लगाई जाती थी। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण सांची में स्थित मन्दिर क्रमांक 18 में देखे जा सकते हैं। वही प्रयोग वर्तमान में भी संरक्षण कार्य में किया गया है।

बेसनगर क्षेत्र के उत्खनन कार्य को सुविधानुसार कई क्षेत्रों में विभाजित किया गया था। बीएसएन-1 से 7 तक के क्षेत्र बेसनगर के अन्तर्गत थे तथा बीएसएन-8 रंगई का क्षेत्र था, जहाँ ताम्राश्मयुगीन तथा उसके पूर्व के अवशेष प्राप्त हुए थे। बीएसएन-3 से विष्णु मन्दिर का भू-विन्यास प्रकाश में लाया गया। उत्खनन के अन्तर्गत अन्य कई पुरावशेष प्राप्त हुए जिनमें किले की दीवार, प्राचीन मन्दिर के अवशेष, भवनावशेष, मृदभाण्ड, मिट्टी के खिलौने, ठप्पे, प्रतिमाएं, सिक्के इत्यादि प्राप्त हुए हैं।

बीएसएन - 1 - त्रिवेणी संगम के निकट का क्षेत्र
बीएसएन - 2 - अशोकनगर मार्ग पर स्थित टीले
बीएसएन - 3 - खामबाबा का क्षेत्र
बीएसएन - 4 - त्रिवेणी संगम के सामने वाला नवलखी टीला
बीएसएन - 5 - यह स्थल बेसनगर के मध्य स्थित है।
बीएसएन - 6 - उदयगिरि मार्ग पर बेसनगर की प्राचीर तथा परिसर
बीएसएन - 7 - नगर प्राचीर के निकट मन्दिर व मकानों के पुरावशेष
बीएसएस - 8 - यह स्थल रंगई रेलवे पुल के निकट स्थित है।

उत्खनन के अन्तर्गत प्राप्त पुरासामग्रियों के आधार पर मृदभाण्ड पूर्व के अश्मोपकरण से अठारहवीं शताब्दी ई. तक के माने गए हैं।

काल - I (अ) के प्रथम चरण में निचली गहराई में मृदभाण्ड निर्माण किए जाने के पूर्व के लघु अश्मोपकरण प्राप्त किए गए हैं, जिन्हें अर्धकीमती पाषाणों से निर्मित किया गया था। संभवत: ये मध्याश्मयुगीन हैं।

काल - I (ब) स्तर पर मृदभाण्ड रहित लघु अश्मोपकरण प्राप्त हुए हैं जिनमें कई ज्यामितिक शैली के हैं तथा कुछ सामान्य बिना किसी आकार-प्रकार के हैं। इनके अन्तर्गत छोटे आकार वाले अश्मोपकरण चन्द्राकृति, त्रिकोणाकृति, चतुष्कोणाकृति, दोनों ओर समान धार वाले हैं।

काल - II (अ) (ताम्राश्म एवं नवाश्मकाल) इसके अन्तर्गत आहाड़युगीन सभ्यता वाले मृदभाण्ड मिले हैं, जिन्हें सफेद चित्रित काले-लाल मृदभाण्ड कहा जाता है। इस प्रकार के पात्र सर्वप्रथम राजस्थान में उदयपुर जिले के निकट आहाड़ ग्राम में प्राप्त हुए हैं। एरण (जिला-सागर) में किए गए उत्खनन में भी इस प्रकार के पात्र मिले हैं, जो बेसनगर क्षेत्र में मिले पात्रों के समान हैं। मृदभाण्डों के अतिरिक्त पकी मिट्टी की मूर्तियाँ (खिलौने), विभिन्न प्रकार के वृषभ, लघु अश्मोपकरण भी प्राप्त हुए हैं।

काल - (ब) - (बीएसएन - 8) स्तर पर मालवा सभ्यता वाले मृदभाण्ड, काले चित्रित लाल मृदभाण्ड मिले हैं, जिन पर पशु तथा ज्यामितिक आलेखन है। नागदा, कायथा, दगवाड़ा इत्यादि स्थलों पर इस प्रकार के मृदभाण्ड मिले हैं। इनके अतिरिक्त पकी मिट्टी के खिलौने, विभिन्न प्रकार के मनके, तावीज़, लघु अश्मोपकरण इत्यादि भी मिले हैं। इस काल के ऊपरी स्तर पर नवाश्मयुगीन सामग्री प्राप्त हुई है, जिनमें प्रमुख इस युग की कुल्हाड़ी है। इस स्तर के साथ मिले मृदभाण्डों में कुछ भूरे (धूसर) रंग के मोटे पात्र हैं जिन पर नारंगी रंग की चित्रकारी देखी जा सकती है।

काल - (ब) के समकालीन ही बेसनगर में निचले स्तर तथा बीएसएन - 1, 4 से भी कुछ ताम्रश्मकालीन मृदभाण्ड के साथ काले चित्रित धूसर मृदभाण्ड (PGW) प्राप्त हुए हैं, जो एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। 1975-77 के मध्य किए गए बीएसएन-6 तथा 7 में उत्खनन के निचले स्तर पर चित्रित धूसर (भूरे) (PGW) मृदभाण्डों के उत्तम श्रेणी के टुकड़े मिले हैं।

काल - III (अ) स्तर को प्राक् मौर्यकालीन स्तर माना गया है। इस स्तर पर कुछ आहत मुद्राएं (PMC), तथा उत्तरी ओपदार काले मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं, साथ ही कुछ लौह सामग्री भी प्राप्त हुई है। इनके अध्ययन के आधार पर यह स्तर ई. पूर्व नौवीं शताब्दी से ई. पूर्व पांचवीं शताब्दी माना गया है।

काल - III (ब) स्तर पर कई आहत मुद्राएं, लौह उपकरण, उत्तरी काले ओपदार, भूरे, लाल मृदभाण्ड इत्यादि मिले हैं। एम. डी. खरे द्वारा इस स्तर से प्राप्त सामग्री की C^{14} तिथि करवाई गई है जिसका समय 470 + 105 ई.

पूर्व आया है। काल के अन्तिम ऊपरी स्तर पर विदिशा के सिक्के प्राप्त हुए, जिन पर तत्कालीन ब्राह्मी लिपि में विदिशा लिखा हुआ है।

काल - III (स) शुंग-सातवाहन सभ्यताओं का विकास हुआ। शुंगकालीन ब्राह्मी लिपि की सील एवं मुद्रा (मालव सिक्के), पकी मिट्टी के खिलौने, पकी मिट्टी तथा पत्थर के मनके, श्रृंगार उपादान, लौह उपकरण, इत्यादि प्राप्त हुए हैं। इस काल के विभिन्न प्रकार के मृदभाण्डों के अतिरिक्त अभ्रक मिले (मिश्रित) लाल मृदभाण्ड भी प्राप्त हुए हैं। इस काल की सबसे प्रमुख उपलब्धि हिलियोडोरस स्तंभ के निकट विष्णु मन्दिर के प्राचीनतम अवशेष प्राप्त होना हैं।

काल - IV (अ) स्तर पर लाल तथा काले मृदभाण्ड अत्यधिक मिले जो नाग-कुणाल शासकों के समय के पद्मावती (ग्वालियर के निकट) के भारशिव नाग शासकों के समय के हैं। इनकी ताम्रमुद्राएं उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। इस स्तर पर क्षत्रपों की रजत मुद्राएं प्राप्त होनी प्रारंभ होती है। इस स्तर से साधारण शैली के लाल ओपदार मृदभाण्ड भी मिलने प्रारंभ होते हैं।

काल - IV (ब) स्तर पर उत्तम श्रेणी के लाल ओपदार मृदभाण्ड प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनमें प्रमुख टोंटीदार मृदभाण्ड हैं, जिन्हें 'स्प्रिंकलर्स' भी कहा जाता है। साथ ही लौह सामग्री, क्षत्रप मुद्राएं, अलंकृत मृदभाण्ड, मनके इत्यादि प्राप्त होते हैं। बीएसएन-6 से प्राप्त विष्णु की लघु प्रतिमा तथा बीएसएन-7 से उत्खनित मन्दिर के अवशेष महत्वपूर्ण हैं।

काल - V पूर्व मध्यकालीन माना गया है। यहाँ पर कई प्रतिमाओं के टुकड़े मिले हैं संभवत: ये प्रतिहार कालीन हैं। मृदभाण्डों की परंपरा में काले, लाल मृदभाण्ड हैं। इस समय पुरावशेष कम होते चले गए हैं, क्योंकि यहाँ नदी की बाढ़ से लोगों का पलायन होने लगा, तथा वर्तमान विदिशा में बसावट प्रारंभ होने लगी।

काल - VI के सबसे ऊपरी स्तर पर ग्वालियर, ब्रिटिश शासकों तथा भोपाल नवाबों के सिक्के प्राप्त हुए हैं।

कालानुक्रम

काल	सांकेतिक अवशेष	कालनिर्णय
काल - I - (अ)	मृद्भाण्ड पूर्व के लघु अश्मोपकरण (अज्यामितिय)	
काल - I - (ब)	मृद्भाण्ड पूर्व के लघु अश्मोपकरण (ज्यामितिय एवं अज्यामितिय)	
काल - II - (अ)	ताम्राश्मकाल (आहाड़ सभ्यता)	लगभग अठारहवीं शताब्दी ई. पू. से नौवीं शताब्दी ई.पू.
काल - II - (ब)	ताम्राश्म-नवाश्म काल (बीएसएन-8)	
काल - II - (ब)	चित्रित धूसर मृद्भाण्ड (PGW) (बीएसएन-1, 4) (ताम्राश्म कालीन मृद्भाण्ड के समकालीन)	
काल - III - (अ)	प्राक् मौर्यकाल (उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड से पूर्व की संस्कृति)	लगभग नौवीं उद्शताब्दी ई.पू. से पांचवी शताब्दी ई.पू.
काल - III - (ब)	उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड	लगभग पांचवी शताब्दी ई.पू. से दूसरी शताब्दी ई.पू. तक
काल - III - (स)	शुंग-सातवाहन काल	लगभग दूसरी शताब्दी ई.पू. से प्रथम शताब्दी ई. के प्रारंभ तक
काल - IV - (अ)	नाग-कुषाण काल	प्रथम शताब्दी ई. से तीसरी शताब्दी ई. तक
काल - IV - (ब)	क्षत्रप-गुप्तकाल	तीसरी शताब्दी ई. से पांचवी शताब्दी ई. तक
काल - V -	पूर्व मध्यकाल	नौवीं शताब्दी ई. से ग्यारहवीं शताब्दी ई. तक
काल - VI -	उत्तर मध्यकाल से आधुनिक समय तक	ग्यारहवीं शताब्दी से वर्तमान यानी मराठा-नवाब युग

डॉ. नारायण व्यास
अधीक्षण पुरातत्वविद
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भोपाल

डॉ० सुरेन्द्र चौरसिया

कलचुरि कालीन साँस्कृतिक इतिहास

(नोहटा, दमोह जिले के परिप्रेक्ष्य में)

नोहटा की भौगोलिक स्थिति-23 40 उत्तरी अक्षांश तथा 79 30 पूर्वी देशांतर पर व्यारमा नदी की सहायक गोरया तथा व्यारमा के संगम पर है। दमोह से दक्षिण पूर्व की ओर नोहटा-जबलपुर मार्ग पर दमोह से 23 किलोमीटर की दूरी पर नोहटा नामक कस्बा है। कस्बे से एक कि.मी. जबलपुर मार्ग के बांई ओर कलचुरि शिखर शैली का शिव मंदिर अवस्थित है। स्थानीय निवासी इसे ''मढ़ा'' कहते हैं।

त्रिपुरी के कलचुरि-नरेश युधराज देव प्रथम के शासनकाल में उसकी धर्मात्मा पत्नी महारानी नोहला देवी द्वारा शैवाचार्यों के निर्देशन

पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दसवीं शती से लेकर 13वीं शती तक दमोह क्षेत्र के अन्तर्गत कलचुरि कालीन कला का चहुंमुखी विकास हुआ।

में यहां नोहलेश्वर शिव मन्दिर की स्थापना कराई गई। इसका निर्माण काल ईस्वी 960 माना गया है। कलचुरियों के शासनकाल में त्रिपुरी, मडाघाट, बिलहारी, कारीतलाई, नोहटा, गुबरा, दोनी, कोडल, सोहागपुर, अमरकंटक, गुर्गी, चंद्रेहे आदि उल्लेखनीय कला केन्द्र थे। संस्कृत के सुप्रसिद्ध लेखक महाराज राजशेखर तथा अनेक विद्वानों और शैवाचार्यों ने कलचुरि-नरेशों के संरक्षण में कला तथा साहित्य के सृजन में महान योगदान दिया था।

कलचुरि शासन काल में इस भूभाग का चहुंमुखी विकास हुआ। काल विशेष में धर्म, साहित्य एवं कला-संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी, फलस्वरूप नोहलेश्वर मंदिर का सांस्कृतिक समरसता के सौहार्द्र में अभूतपूर्व योगदान रहा। ग्राम्य जीवन के सांस्कृतिक पहलू को जानने के लिए स्मारक उपयोगी रहे हैं। कतिपय नोहटा ग्रामवासियों के मकानों की भित्तियों, अन्य कई स्थलों पर चतुर्भुजी देवी, नवग्रह, युगल प्रतिमाएं, चतुर्भुजी कंकाली, दण्डधर शिव, गजासुर संहारक शिव, पार्वती, गणेश आदि की प्रतिमाओं के अतिरिक्त वास्तुकला के अवशेष विद्यमान हैं। मंदिर परिसर में 20 प्रतिमाएं संरक्षित हैं जो विविध देवी-देवताओं की हैं।

वर्तमान पुरातत्व शास्त्रियों के पुरातत्वीय अध्ययन के फलस्वरूप दमोह जिले के इतिहास को जानने में नोहलेश्वर मंदिर के महत्व को नहीं भुलाया जा सकता है। तत्कालीन समय में शैव सम्प्रदाय उपासना, धार्मिक सद्भाव, सहिष्णुता, सांस्कृतिक मेल-जोल की भावना को उजागर करता है।

क्षेत्र विशेष के अन्तर्गत जिले के ऐतिहासिक स्थलों पर नजर डालें तो कुण्डलपुर, नोहटा, कोडल, सकोर, बव्यिागढ, रनेह, हिण्डोरिया, सगोरिया, चौपडापट्टी, गुबरा, दोनी, मोहड, डूमर, बडगवाँ, छितराखेडा, फतेहपुर आदि स्थानों से क्षेत्र विशेष का परवर्ती इतिहास ज्ञात होता है।

क्षेत्र विशेष से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि दसवीं शती से लेकर 13वीं शती तक दमोह क्षेत्र के अन्तर्गत कलचुरि कालीन कला का चहुंमुखी विकास हुआ। कलचुरि काल में विवेच्य क्षेत्र की समृद्धि हुई। कलचुरि शासक युवराज देव प्रथम गांगेयदेव लक्ष्मी कर्ण के समय में इस क्षेत्र में मंदिरों तथा मूर्तियों का व्यापक निर्माण करवाया गया। कलचुरि कालीन आरंभिक मूर्तिकला उच्चकोटि की थी। उसमें सुव्यवस्थित अंग-विन्यास के साथ-साथ भाव-प्रदर्शन का अत्यंत रोचक समन्वय मिलता है। कलचुरि शासकों ने साहित्यकारों तथा कुशल कलाकारों को राजाश्रय प्रदान किया।

युवराज देव प्रथम ईसवी सन 915 से 945 तक कलचुरि शासक थे। वे अप्रतिम वीर, नीतिज्ञ तथा उदार शासक थे। युवराज देव के उत्तराधिकारी एवं अन्य सामयिक राजवंशों के लेखों में इस राजा के संबंध में पर्याप्त विवरण उपलब्ध है। राजशेखर कृत संस्कृत रचना विद्वशालभंजिका में भी इस राजा के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

युवराज देव का अन्य नाम कपूरवर्ष अथवा कर्पूरवर्ष प्राप्त होता है। इसके पुत्र द्वितीय लक्ष्मण राज के कारीतलाई शिलालेख में उसके विविध सैन्य अभियानों का विवरण है। बिलहरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गौड़ (बंगाल), कर्णाट (कर्नाटक), गुजराट (लाट), कलिंग (उड़ीसा) तथा कश्मीर पर आक्रमण किया और उन प्रदेशों की रमणियों से विवाह किया। चन्देल राजा यशोवर्मा के अभिलेख में युवराज देव के प्रताप का वर्णन निम्न पद 'विख्यात क्षितिपाल मौलिरचना विनय स्तपादाम्बुज' (जिसने अपना पद-कमल प्रख्यात नरेशों के सिर पर स्थापित किया), में किया गया है। उसने सम्राट पद की सूचक पदवियां-परमेश्वर, चक्रवर्ती तथा त्रिकलिंगाधिपति धारण कर रखी थीं। राजशेखर कृत विद्वशालभजिंका नाटक के चतुर्थ अंक में युवराज देव द्वारा विभिन्न प्रदेशों पर विजय की चर्चा अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से की गई है। द्वितीय लक्ष्मण राज के कारीतलाई अभिलेख के अनुसार युवराज देव ने गुर्जर प्रतिहार नरेश महिपाल पर विजय प्राप्त की थी। उसने गौड़ाधिपति, मालवनृपति और इसी तरह दक्षिण कौशलाधिपति को पराजित किया था। राष्ट्रकूट नृपति इन्द्र ने किसी कलचुरि राजकन्या से विवाह किया था। उसकी कन्नौज की चढ़ाई के समय युवराज देव ने उसे मदद पहुंचाई थी। राष्ट्रकूट और कलचुरि की सामूहिक शक्ति के समक्ष प्रतिहार नरेश महिपाल न टिक सका और उसे भी अपनी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा और तभी से प्रतिहारों के साम्राज्य का ह्रास होने लगा। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि राजशेखर कन्नौज में प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल और महिपाल के आश्रय में थे। इस आक्रमण के बाद

नोहटा शिव मंदिर (10वीं शती)की मूर्तियाँ

नोहटा मंदिर नृत्य उत्सव

वे त्रिपुरी आए। वहां उन्होंने ''विद्वशालभंजिका'' नामक नाटिका और संस्कृत साहित्य पर काव्य मीमांसा नामक एक बहूमल्य ग्रंथ की रचना की थी। माना जाता है कि चन्देल वंशीय त्रैलोक्यवर्मन ने 1211 ई. के लगभग त्रिपुरी के विजय सिंह को पराजित करके उसकी साम्राज्य सत्ता अपने हाथों में ले ली थी। त्रैलोक्यमल्ल को चन्देलवंश का त्रैलोक्यवर्मन माना गया और यह निष्कर्ष निकाला गया कि उसने कलुचरि विजय सिंह से यह प्रदेश छीन लिया था।

मण्डला जिले के झूलपुर ग्राम से प्राप्त ताम्रपत्र द्वारा जानकारी मिलती है कि कलचुरि राजा विजय सिंह का पुत्र त्रैलोक्यमल्ल था। उसका जन्म 1197 ई. में हुआ था। चूंकि चंदेल त्रैलोक्यवर्मन की मृत्यु 1245 में हो चुकी थी, इसलिए 1250 ई. में राज्य करने वाला त्रिकलिंगाधिपति त्रैलोक्यवर्मन देव वास्तव में विजय सिंह का पुत्र कलचुरि राजा त्रैलोक्यमल्ल था। कलचुरि नरेश त्रैलोक्यमल्ल 1250 ई. तक राज्य करता रहा, लेकिन उसके बाद त्रिपुरी के कलचुरि वंश के इतिहास का अध्याय समाप्त होता है।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार चौरसिया
''शोध अध्येता''
स्वराज संस्थान संचालनालय
संस्कृति विभाग, म. प्र. शासन
भोपाल

ए.के. खन्ना

रामनगर महल और उसकी चित्रकारी

हजारों वर्षों तक प्राकृतिक आपदाओं और इंसानी बर्बरता का कहर झेलने के बावजूद भारत में चित्रकला आज भी जीवित है। अजंता की गुफाओं (महाराष्ट्र में औरंगाबाद जिला) में मौजूद भित्तिचित्र दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पांचवीं शताब्दी तक की भारतीय चित्रकला की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और परंपरा की दास्तान बयान करते हैं। इन 29 बौद्ध गुफाओं को ज्वालामुखीय शैल सतह पर बड़े परिश्रम और लगन से बनाया गया है ताकि ये सजीव प्रतीत हों। इतना समय गुज़रने के बाद भी अजंता की समृद्ध परंपराएं आज भी अक्षुण्ण हैं, जबकि इन्हें कलाकारों द्वारा बाद के काल में चित्र संबंधी बनावट, चित्रण और रंगों को बेहतरीन ढंग से मिलाने की जानकारी होने से पहले बनाया गया था। जैन सम्प्रदाय के व्यापारी वर्ग ने धार्मिक पारंपरिक संरक्षण के माध्यम से चित्रकला परंपरा को अपने मंदिरों की दीवारों, ताड़पत्रों आदि पर चित्रकारी करके उसे जीवित रखा। देश की सीमाओं पर बार-बार आक्रमण होने के कारण 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कला की कद्र घटने लगी तो वैष्णव धर्म के लोकप्रिय सम्प्रदाय ने उत्तरी भारत में समाज के विभिन्न वर्गों में भक्ति आंदोलन चलाया। भक्ति आंदोलन भगवान विष्णु, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम और भगवान कृष्ण के अवतारों पर केन्द्रित था, जिससे विविध कला रूपों को प्रोत्साहन मिला।

राजस्थान और पहाड़ी रियासतों के राजा राम लीला और कृष्ण लीला से काफी प्रभावित थे। उन्होंने कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया तथा भक्ति काव्य को चटकीले रंगों में चित्रित करने का आदेश दिया और इन चित्रकलाओं के कारण ही अविभाजित पंजाब में पहाड़ी शैली के विभिन्न लघु चित्रकला शैलियों का आर्विभाव हुआ। पहाड़ी शैली की चित्रकला का विकास भसौली, जम्मू, कांगड़ा और गुलेर रियासतों के दायरे में हुआ, जबकि 16वीं शताब्दी के दौरान कुछ अन्य रियासतें अपनी निजी शैली स्थापित करने का प्रयास कर रही थीं। इन

महल का विहंगम दृश्य

महल का एक हिस्सा

रियासतों के जागीरदारों में आपस में कला को लेकर होड़ लगी हुई थी। उन्होंने अपने उभरते कलाकारों का एक दल बनाने तथा नए कलाकारों को प्रशिक्षित करने के लिए कार्यशालाओं का आयोजन करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप, ऊधमपुर, रियासी, बंद्राल्टा (रामपुर), चम्बा, कुल्लू, मण्डी, बिलासपुर आदि जैसी पहाड़ी रियासतों ने लघु चित्रकला परंपराओं में नई ऊँचाइयाँ छूने का प्रयास किया। मुग़ल काल में औरंगज़ेब की ताजपोशी होने के बाद मुग़ल दरबार के कलाकार दूसरी रियासतों को पलायन कर गए क्योंकि मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब ने बादशाह अकबर के दरबार में नियुक्त बहुत से दरबारी चित्रकारों को संरक्षण देना बंद कर दिया था।

जम्मू लघु चित्रकला शैली में पुंछ, रामनगर, रियासी चित्रकला परंपरा शामिल हैं जो अपने रंगों, चित्रों और आत्मपरक सौंदर्य की दृष्टि

महल का भीतरी दृश्य

से विख्यात हैं। यह चित्रकारी देवी-देवताओं के तीन उपाख्यानों - प्राकृतिक सौंदर्य की सुरम्य प्रस्तुति, फूलों तथा किनारों पर ज्यामिती डिजाइन तक ही सीमित है। यह चित्रकारी रामायण और महाभारत पर आधारित है। प्रेम को भारतीय चित्रकला परंपरा के मुख्य प्रतीक चिह्नों जैसे राधा-कृष्ण, पक्षियों की जोड़ी, उमड़ते-घुमड़ते मेघों, केले और कचनार के पेड़ों, आम्रवनों, कमल आदि के माध्यम से दर्शाया गया है। लाल, नीला और पीला रंग क्रमशः सृष्टि, जीवन और मृत्यु का प्रतीक माना जाता है। कैनवास या चित्रकला की पृष्ठभूमि को और अधिक आकर्षक तथा चमकदार बनाने के लिए अंडे की जर्दी, उबले चावलों की मांड, जैविक बीजों, शीरे और पशुओं की हड्डियों के चूर्ण आदि का इस्तेमाल किया जाता था।

रामनगर, जो बंद्राल्टा राज्य की तत्कालीन राजधानी थी, हरी-भरी शिवालिक पहाड़ियों के बीच, मध्य-हिमालय पर्वत श्रृंखला में रामनगर खड्ड के बाएं तट पर स्थित है। यह स्थल धार सड़क के किनारे ऊधमपुर से पश्चिम में लगभग 40 कि.मी. पर तथा जम्मू से लगभग 105 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। रामनगर की पहाड़ियों पर बसा यह

जम्मू लघु चित्रकला शैली में पुंछ, रामनगर, रियासी चित्रकला परंपरा शामिल हैं जो अपने रंगों, चित्रों और आत्मपरक सौंदर्य की दृष्टि से विख्यात हैं।

स्थान शहर की भाग-दौड़ वाली ज़िन्दगी से दूर एक खूबसूरत जगह है, जहाँ से घाटी का मनोरम दृश्य दिखाई देता है।

रामनगर महल परिसर, किले की पश्चिमी चारदीवारी से होकर गुज़रने वाले नाले के ठीक ऊपर रामनगर की पहाड़ियों की ढलान पर बना है। सम्भवतः यह नाला चट्टानों में बने गहरे दर्रे से महल को सुरक्षा प्रदान करता होगा।

पूरा महल रामनगर शहर से अधिक ऊंचे स्थान पर है जहां से पहाड़ी की ढलान पर मुख्य सड़क दिखाई देती है। परिसर का प्रवेश द्वार पूर्व दिशा की ओर है, जिसका रास्ता उत्तर दिशा में स्थित शीश महल और दक्षिणी हिस्से में स्थित एक हॉल, जिसे दरबार हॉल के नाम से जाना जाता है, से होकर गुजरता है।

शीश महल परिसर के प्रवेश द्वार तक सीढ़ियों से चढ़कर पहुंचा जा सकता है जहाँ एक खुली ड्योढ़ी है। सामने की ओर दोनों तरफ बने विशाल चबूतरों सहित खुले बुर्ज हैं, जो किले का आभास कराते हैं। यहां तीन पुरानी तोपें हैं जिन्हें रामनगर के किले से लाया गया था।

मुख्य प्रवेश द्वार से पहले आँगन से ऊँची जगह पर शीश महल है जिसमें रामनगर की लघु चित्रकला शैली के खूबसूरत लघु-चित्रों को प्रदर्शित किया गया है।

दरबार महल में भित्तिचित्र हैं जो रामायण, भागवत और पुराणों के प्रसंगों पर आधारित हैं। इसके अलावा, यहाँ राजा सुचेत सिंह के चित्र भी हैं। उत्तर दिशा की ओर आगे जाने पर एक शीश महल आता है, जिसकी दीवारों को विभिन्न डिजाइनों में बड़े आकार के काँच और छोटे शीशों से सजाया गया है तथा बाद में विक्टोरिया परिधान में खूबसूरत फ्रांसीसी महिलाओं की अर्द्ध-प्रतिमाओं के फ्रांसीसी लीथोग्राफ भी लगाए गए।

रंगमहल की दीवारों को बारीक शीशे की उत्कृष्ट कारीगरी से सजाया गया है और पट्टियों पर शिकार करते हुए और दरबार के दृश्यों के अलावा नायिकाओं, रागनियों और कृष्ण-लीला के दृश्यों को प्रदर्शित किया गया है। चित्रित पट्टियों के बीच में कुछ शीशे लगे हुए थे, ब्रिटिश काल के दौरान उनकी जगह पर खूबसूरत महिलाओं के फ्रांसीसी लीथोग्राफ लगा दिए गए।

रामनगर शहर शिवालिक पहाड़ियों के प्राकृतिक सौंदर्य से घिरा हुआ है जिसमें अनेक झरने बहते हैं, जो इसके आसपास के परिवेश को हरा-भरा रखते हैं। यह क्षेत्र कभी पहाड़ी रियासत हुआ करता था, जिस पर चंद्र वंश के चम्बा शासक के परिवार से जुड़े बंद्राल राजपूत शासन किया करते थे। बंद्राल्टा राजा भूपेन्द्र देव ने, सिक्ख फौजों द्वारा उन्हें गद्दी से उतारे जाने तक यहाँ सन 1821 ईस्वी तक शासन किया। राजा को मजबूर होकर रामनगर छोड़ना पड़ा और उन्होंने अम्बाला (हरियाणा) की पहाड़ियों में शरण ली। रामनगर प्राचीन बंद्राल्टा रियासत की राजधानी भी रह चुका है और इसकी बागडोर राजा सुचेत सिंह को सौंपी गई थी, जो महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1819-39 ईस्वी) के सिक्ख दरबार में जांबाज़ सिपहसालार थे। राजा सुचेत सिंह, जम्मू के राजा गुलाब सिंह के भाई भी थे, जो प्राचीन बंद्राल्टा राज्य के शासक बने।

बंद्राल्टा जागीरदारों ने राजा सुचेत सिंह के शासन काल के दौरान 19वीं शताब्दी में इसका नाम बदलकर रामनगर कर दिया। राजा सुचेत सिंह कला और वास्तुकला के महान पारखी थे। उन्होंने रामनगर महल में काफी रुचि दिखाई और शीश महल तथा पुराना महल का निर्माण करवाया। उन्होंने शहर में स्थित किले का जीर्णोद्धार भी करवाया। सन्

नायिका का भित्तिचित्र

1844 ईस्वी में रामनगर पर गद्दीनशीं होने के बाद राजा राम सिंह ने नया महल बनवाया। वे रणबीर सिंह के पुत्र थे, जो 1856 ईस्वी में जम्मू व कश्मीर के महाराजा बने और उन्होंने 1880 ईस्वी तक राज किया। राजा सुचेत सिंह (सन् 1801-1844 ईस्वी) और राजा राम सिंह दोनों का कोई वारिस नहीं था, जिसके परिणामस्वरूप सन् 1887 ईस्वी में राजा राम सिंह की मृत्यु के बाद उनकी जागीर का जम्मू साम्राज्य में विलय हो गया। कांगड़ा के राजा संसार चंद की ही तरह राजा सुचेत सिंह भी कला के महान पारखी थे। इसलिए बंद्राल जागीरदारों के इलाकों में बंद्राल्टा चित्रकला शैली का उद्भव हुआ और यह राजा सुचेत सिंह के शासनकाल में खूब फला-फूला। रामनगर के शीश महल में भित्तिचित्र बनवाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। रामनगर महल परिसर में शीश महल, पुराना महल और नवा महल स्थित हैं जो एक-दूसरे के काफी नज़दीक हैं। रामनगर की पहाड़ियों की ढलान पर स्थित ये महल घाटी की खूबसूरती को बढ़ाते हैं।

महल का पार्श्व दृश्य

पुराना महल परिसर में अनेक कमरे हैं। यह तीन मंजिला है और इसकी दीवारें बहुत ऊंची हैं, जिसमें समान दूरी पर बने बुर्ज इसकी शोभा बढ़ाते हैं। कमरों की दीवारों को गचकारी (बारीक चूना) से सजाया गया है और इस पर फूल-पत्तियों और ज्यामिती डिजाइन बनाए गए हैं। अंदरूनी छत में लगी लकड़ी के हिस्सों को भी काफी सज़ाया गया है। अंदरूनी छत के उभारदार कोने कमल के आकार के हैं। नवा महल के अंदर एक आँगन है जिसके चारों ओर हॉल हैं और आमने-सामने दो प्रवेश द्वार हैं। बाहरी ऊँची दीवारों को टेक लगाकर सहारा दिया गया है। हॉल की कृत्रिम अंदरूनी छत लकड़ी की कड़ियों से बनी है जिस पर फूलों के डिजाइन बने हुए हैं। शीश महल पुरानी हवेलियों की तरह बना हुआ एक अनूठा भवन है, जिसके चौड़े अलंकृत प्रवेश-द्वार के दोनों ओर सजावटी कक्ष हैं, जिनके दाईं ओर भित्तिचित्र बने हुए हैं। इसमें तीन हॉल हैं जो दरबार हाल, शीश महल और रंग महल के नाम से जाने जाते हैं। दरबार हाल की विशाल दीवारों को भित्तिचित्रों से सजाया गया है। चित्रकला बंद्राल्टा शैली की विशिष्ट पहाड़ी शैली को दर्शाती है। इनमें महाभारत और रामायण के प्रसंगों को बड़ी दक्षता और कुशलता से चित्रित किया गया है। दीवार पर राजा सुचेत सिंह का दरबार में अपने दरबारियों के साथ एक बेहद खूबसूरत चित्र भी बनाया गया है जो बरबस आकर्षित करता है। युद्ध के कुछ दृश्यों में राजा सुचेत सिंह को नायक के रूप में चित्रित किया गया है, जो हॉल की श्वेत पृष्ठभूमि को भव्यता प्रदान करते हैं। सम्भवत: इस हॉल का उपयोग शाही दरबार के रूप में किया जाता होगा। दूसरा कक्ष छोटा है जिसे शिकार, दरबार के दृश्यों और राजाओं तथा दरबारियों के चित्रों सहित नदियों, बेलों, पगडण्डी और फूलों की पट्टियों से सजाया गया है।

दीवारों पर बनी पट्टियों में सबसे अधिक आकर्षक पट्टियां वे हैं जिनके ऊपरी कोने पर लगे स्लैब पर नायकों के चित्र बने हुए हैं। गठीले बदन पर सजी अलंकृत वेशभूषा, बारीक कढ़ाई लाल, सफेद और आसमानी रंग की किनारी से सजी हुई है। इसमें सुनहरी पत्तियां लगाई गई हैं। इन चित्रकलाओं में बंद्राल्टा शैली के कुछ उत्कृष्ट पहलुओं की झलक मिलती है, जिसकी अवधारणा जम्मू और भसौली की लघु चित्रकारी शैली से प्रभावित है। कुछ आलों में राजकुमारियों और नायिकाओं के चित्र बनाए गए थे, जिन्हें कुछ ब्रिटिश निवासियों द्वारा यूरोपीय मूल की अंग्रेज सुंदरियों के चित्रों से बदल दिया गया था। बीच में लगी कुछ पट्टियों के मूल चित्रों को हटाकर उनके स्थान पर यूरोपीय लीथोग्राफ लगा दिए गए थे। रंगमहल की दीवारों को भगवान कृष्ण और गोपियों की प्रेम लीलाओं के अनेक चित्रों से सज़ाया गया है। महल के इस हिस्से का प्रयोग संभवत: शाही परिवार के मनोरंजन, संगीत और नृत्य के लिए किया जाता होगा, इसीलिए इसे रंगमहल के नाम से जाना जाता है।

रंगमहल का अगला कक्ष शीश महल के नाम से जाना जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस कक्ष में उत्तल शीशे लगे हुए हैं, जिनके बीचों-बीच सुंदर चित्र बने हुए हैं। रामनगर महल परिसर की इन चित्रकलाओं को अब भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण द्वारा परिरक्षित और संरक्षित किया जा रहा है क्योंकि इसे राष्ट्रीय महत्व के स्मारक का दर्जा दिया गया है। किसी काल की बहुमूल्य अमूर्त विरासत को नष्ट किए बिना हमें उसे भावी पीढ़ी को सौंपना होगा अन्यथा इनका संरक्षण न करने के लिए भावी पीढ़ियाँ, वर्तमान पीढ़ी को दोषी ठहराएंगी। इससे पहले कि बंद्राल्टा की यह अद्वितीय चित्रकला परंपरा लुप्त हो जाएं, इन्हें भावी पीढ़ी को सौंपे जाने की आवश्यकता है।

ए. के. खन्ना
पुरातत्वविद
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, जम्मू

अनुवादक : श्री संजय कुमार
97/सी, पी डी ब्लॉक
पीतमपुरा, दिल्ली : 110033

हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति

सुदर्शन वशिष्ठ

हिमाचल प्रदेश में गद्दी एक विशिष्ट जनजाति है जो शारीरिक संरचना, संस्कृतनिष्ठ भाषा, विशिष्ट वेशभूषा के कारण अपना अलग अस्तित्व रखती है। इस जनजाति का मूल क्या रहा होगा, यह निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता।

गद्दी अपने को मैदानों से आया हुआ बताते हैं। 'ए ग्लोरी ऑफ द ट्राईब्स एण्ड कास्ट्स' में उल्लेख है कि राजा अजय वर्मन के समय में कुछ चौहान राजपूत, गद्दी ब्राह्मण, मैदानों से पलायन कर यहां आए। कुछ राजपूत और खत्री औरंगजेब के समय मैदानों से यहाँ आए। अजय वर्मन का समय सन् 850-70 माना गया है जो सही प्रतीत नहीं होता। 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज स्टेट' में अजय वर्मन का कार्यकाल सन् 760 दिया गया है, जो सही प्रतीत होता है, जिसमें गद्दी ब्राह्मणों तथा राजपूतों के दिल्ली आने का उल्लेख है।

यह मान्यता कि भरमौर (पुरातन ब्रह्मपुर) गद्दियों की वास्तविक भूमि थी, इतिहास से मेल नहीं खाती। ब्रह्मपुर एक सम्पन्न राज्य था जो यहां के मंदिरों, वास्तुकला, मूर्तिकला को देखकर प्रमाणित होता है। ब्रह्मपुर का इतिहास आदित्य वर्मन (सन् 620) तक और उसके भी पहले मारू तक जाता है।

ब्रह्मपुर का पुरातन राज्य राजा साहिल वर्मन (सन 920) के समय राजधानी चम्बा स्थानांतरित होने से उपेक्षित हो गया था। बाद में गद्दियों की प्रवासी प्रकृति के कारण सूना-सूना रहने लगा। सम्भवत: तभी गजेटियर में (1904) भरमौर की जनसंख्या 1901 की जनगणना के अनुसार मात्र 4,343 बताई गई है। हो सकता है कि जनगणना सर्दियों के मौसम में हुई हो और अधिकांश गद्दी अपनी भेड़-बकरियों के साथ कांगड़ा या मैदानों में चले गए हों। घरों में बूढ़े लोग ही बचे होंगे। अन्य स्रोतों के अनुसार वास्तविक जनसंख्या 33,907 थी।

क्या गद्दी लोग पहले से ही प्रवासी थे और भेड़-बकरी पालन के कारण मात्र गर्मियों में ही भरमौर आते थे? इनके व्यवसाय, रहन सहन तथा परम्पराओं और देवी देवताओं के अस्तित्व से ऐसा ही प्रतीत होता है। गर्मियों में अपनी भेड़-बकरियों 'धण' के साथ कुछ धौलाधार से कांगड़ा की ओर आते हैं, तो कुछ 'साच' दर्रे, 'कुगति' दर्रे या अन्य मार्गों से पांगी तथा लाहौल की ओर से। अत: गद्दियों का पंगवालों और विशेषकर लाहुलों से सम्बन्ध रहा है।

गद्दी लोग आज भी आग जलाने के लिए चकमक पत्थर का इस्तेमाल करते हैं। कुल्लू, किन्नौर तथा लाहौल के लोगों की भांति बलि देते हैं और कई प्रकार के विश्वासों (या अन्धविश्वासों) मान्यताओं से ग्रसित हैं। उनकी अपनी अलग वेशभूषा और भाषा है। अत: यह जनजाति भी यहां की मूल जनजाति है। यदि ये दिल्ली या मैदानों से आए होते तो इनमें इतना कुछ अलग नहीं होता। अलबत्ता बाद में बहुत से लोग मुस्लिम काल में धौलाधार की ओर पलायन करते रहे, जो चम्बा या आसपास के लोगों में घुल-मिल गए।

गद्दियों में प्रमुख चार जातियां हैं- ब्राह्मण, खत्री, ठाकुर या राठी तथा अन्य। ब्राह्मण तथा खत्री राजपूत यज्ञोपवीत धारण करते हैं। ठाकुर या राठी यज्ञोपवीत नहीं पहनते। अन्य जातियों में कोली, रिहाड़े, लोहार, बाढ़ी, सिप्पी तथा हाली आते हैं, जिन्हें गद्दी लोग अपनी तरह गद्दी नहीं मानते।

हर वर्ग कई गोत्रों में विभक्त है। ब्राह्मण, खत्री आपस में विवाह सम्बन्ध कर लेते हैं। विवाह के लिए यज्ञोपवीत धारण करने वाली या न करने वाली भी कोई शर्त नहीं है।

लक्ष्मीनारायण मंदिर समूह, चम्बा

अन्य जातियां या तो खेती करती हैं या वे शिल्पी हैं। कोली तथा सिप्पी को एक ही समझा जाता है। कपड़े बुनना इनका कार्य है। रिहाड़े पीतल के बरतन या जेवर बनाते हैं, लोहार लोहे का काम करते हैं, बाढ़ी लकड़ी का, हाली हल जोतते हैं। ये जातियां सम्भवत: इस ओर बाद में आईं, अत: अछूत मानी जाने लगीं। गद्दी वर्ग ने इन्हें अपना हिस्सा नहीं माना।

ब्राह्मण, खत्री, ठाकुर या राठी ब्राह्मणों के समान अपने गोत्र रखते हैं। कुछ स्थानों के नाम तथा शारीरिक विकलांगता के नामों पर भी गोत्र बने जैसे बटियाल के ब्राह्मण भाट हुए, एक हाथ वाला डण्डू हुआ। घुलने अर्थात् पहलवानी करने से कोई घुलेटू हुआ तो लूण या नमक का काम करने वाला लूणेसर।

गद्दी लोग आज भी आग जलाने के लिए चकमक पत्थर का इस्तेमाल करते हैं। कुल्लू, किन्नौर तथा लाहौल के लोगों की भांति बलि देते हैं और कई प्रकार के विश्वासों (या अन्धविश्वासों) मान्यताओं से ग्रसित हैं। उनकी अपनी अलग वेशभूषा और भाषा है।

ब्राह्मण, राजपूत, राठी ये उच्च बने क्योंकि ये लोग यहां पहले से रह रहे थे। हल जोतने वाले या शिल्पी जो बाहर से आए, निम्न हो गए। हल जोतने वालों पर राजपूतों या राजाओं का अधिकार रहा, इसलिए निम्न कोटि के, कामगार किस्म के कहलाए।

भरमौर में या काँगड़ा के ऊपरी भाग, पालमपुर की धौलाधार के नीचे रहने वाले सभी व्यक्तियों को गद्दी ही कहा जाता है। वे चाहे ब्राह्मण हों, राजपूत या राठी हों या खत्री। खत्री और महाजन अब एक व्यापारी जाति है, जो दुकानदारी करते हैं। पुरातन खत्री राजपूत बने। यह सम्भवत: खत्री की क्षत्रिय से व्युत्पति के कारण रहा होगा। गद्दी खत्री, मैदानों से आए खत्री महाजनों से, जो व्यापारी हैं, भिन्न हो सकते हैं।

ब्राह्मणों में वशिष्ठ, गौतम, अत्रि, भारद्वाज आदि, खत्रियों में रतनपाल, अत्री, भारद्वाज आदि जातियां हैं। किन्तु गोत्रों में 'अलों' से वर्गीकरण हुआ और इन्हीं को वे अपनी जातियाँ समझ बैठे। जैसे जुआरी 'जुक्', चुप रहने वाले 'चुपेटु', नाक में बोलने वाले 'गुन्ना', अफीमची 'अमलेतु', काले रंग वाले 'कपूर', मुक्केबाज 'मकरातु' कहलाए। डॉ. विलियम निविल ने 'रिपोर्ट आन शैड्यूल कास्ट्स एण्ड शैड्यूल ट्राईब्स' में तीन सौ 'अलों' की सूची दी है।

जालंधर खण्ड में किन्नौर, स्पिती दोनों लाहुल, पंगी और धेरन के लोगों को उनके निवास स्थान और जातीय-विशेषता के कारण हम सीमांती या जनयुगीन जातियां कह सकते हैं। इनमें से कुछ के बारे में विशेष रूप से राहुल जी ने लिखा है: गद्दी वस्तुत: एक जाति का नहीं, बल्कि एक इलाके के रहने वाले ब्राह्मणों, राजपूतों, क्षत्रियों, ठाकुरों और राठियों का नाम है, जिनमें सबसे अधिक संख्या खत्रियों की है। पंजाब में भी खत्री शब्द क्षत्रिय से वैसे ही बिगड़कर बना है, जैसे नेपाल में खत्री। इसलिए गधेरन के क्षत्रियों के उद्गम के लिए हमें पंजाबी खत्रियों की ओर निगाह डालने की जरूरत नहीं। बाहर के लोगों ने गद्दी का जो अर्थ लगा रखा है अर्थात् एक भेड़ चराने वाली

मणिमहेश मंदिर, भरमौर

नृत्य प्रिय गद्दी

हीन जाति, उसके कारण गधेरन के लोग अपने को गद्दी न कहकर ब्राह्मण, राजपूत, खत्री आदि कहते हैं और जनगणना में भी उसी तरह लिखवाते हैं। ये गद्दी मुख्यत: चंबा जिले के ब्रह्मौर वजारत (तहसील) में मिलते हैं, लेकिन, उनमें से कितने ही अपनी दक्षिणी सीमा धौलाधार के घाटों को पार कर कांगड़ा जिले के गाइरों (बुकियालों) के लिए उधर भी चले गए हैं। गधेरन (चंबा) के रहने वाली जातियों के गोत्र फकरू, घोरू (राजवंशी), घुलेटू (पहलवान), भजरेटू, (भारवाहक), गाहरी (चरवाहें), अदापी, लुनेसर (नमक-रोजगारी), काहनघेरू (कांघी रोजगारी), पालनू आदि होते हैं। गद्दी लोग शरीर से बहुत स्वस्थ, रंग में बहुत गोरे और स्वभाव में सीधे-सादे तथा आत्मसम्मान के पुतले होते हैं। वे उत्सवप्रिय होते हैं, गाना-नाचना उन्हें बहुत पसन्द है।

भेड़ों को लेकर वे धौलाधार, पांगीधार या जांस्करधार की ऊंची चरागाहों (गाहरों) में साल के बहुत-से महीने बिताते हैं। उनकी आजीविका का साधन खेती और भेड़-बकरी पालना दोनों हैं। जाड़ों के दिनों में वे अपनी भेड़-बकरियों को लेकर नीचे की और चले जाते हैं। घर के पुरुष बारी-बारी से भेड़-बकरियों के साथ बाहर रहते हैं,

भेड़ों के साथ गद्दी

बाकी लोग गांवों में रह कर खेती और ढोरों को देखते हैं। गद्दी धौलाधार के दोनों तरफ बसे हुए हैं, इसलिए उनके खेत भी चंबा और कांगड़े दोनों जिलों में हैं। कांगड़ा में जाड़े की फसल काटकर ब्रह्मौर (गदेरन) जाकर अपनी गर्मियों की फसल काटते हैं। वे अक्तूबर-नवम्बर में कांगड़ा की ओर जाते हैं और अप्रैल-मई में ब्रह्मौर लौटते हैं। गद्दियों की ईमानदारी के लिए कहावत मशहूर है 'गद्दी मित्तर भोला, दिन्दा टोप तो मंगदा चोला।'

भरमौर में कन्या के जन्म पर पांचवें दिन और पुत्र के जन्म पर दसवें दिन शुद्धि की जाती है जिसे गूंतर या गोंत्राला कहा जाता है। इस अवसर पर माता के कपड़ों को धोने के साथ-साथ पूरे घर की सफाई की जाती है। पूरे घर तथा कपड़ों की शुद्धि के लिए गौमूत्र, दूध तथा गंगाजल का छिड़काव किया जाता है। घर के सभी छोटे-बड़े सदस्य इस का पान भी करते हैं। पुरोहित के पास जाकर शिशु के भविष्य के बारे में पूछा जाता है। यदि शिशु का जन्म शुभ मूहुर्त या नक्षत्र में हुआ हो या अपने या दूसरों के लिए कष्टकारी हो तो पुरोहित के बताए अनुसार अष्टधातु, रत्ती आदि के साथ कंगन बांधा जाता है। दूसरे उपाय भी किए जाते हैं। सामान्यत: बालक की जन्मपत्री नहीं बनवाई जाती। कुछ खाते-पीते घर के लोग ही जन्मपत्री बनवाते हैं।

गूंतर या गोंत्राला होने तक जिस कमरे में शिशु का जन्म हुआ हो, वहां किसी व्यक्ति द्वारा अन्न ग्रहण नहीं किया जाता। शुद्धिकरण तक शिशु की मां को नहलाया भी नहीं जाता। छ: महीने का होने पर नामकरण किया जाता है। कुछ लोग स्वयं ही नाम रख देते हैं तो कुछ पुरोहित से पूछकर नाम रखते हैं। नामकरण के समय गुड़ बांटा जाता है।

बालक को पहली बार अन्न खिलाने के समय भी कुछ संस्कार किए जाते हैं। बालक को जमीन पर बैठाया जाता है और उसके सामने दराट, कुदाल, कागज, खीर रखी जाती है। यदि वह खीर को पहले छुए तो पेटू होगा, कागज छुए तो विद्वान, दराट-कुदाल छुए तो अच्छा कृषक या पुहाल होगा। इस अवसर पर पुरोहित तथा कन्याओं को खीर खिलाई जाती है।

शिशु के जन्म के कपड़ों को सम्भाल कर रखा जाता है। विवाह के समय मां द्वारा ये कपड़े उसे दिखाए जाते हैं और यह एहसास करवाया जाता है कि वह युवक इतना-सा था। पुराने समय में वर मां को इसके लिए एक से चार रुपए तक देता था।

बालक की मृत्यु हो जाने की स्थिति में जहां बालक दफ़नाया गया हो वहां उसे नहलाया जाता है। इसे 'घाट न्हौण' कहते हैं। कई बार तीरथ या शमशान न्हौण भी करवाया जाता है। इस अवसर पर चेले को कपड़े तथा पैसे दिए जाते हैं। गर्भ ठहरने के बाद महिला गर्भपात के देवता कैठू के नाम अपना हार तथा चार चकलियां (पुराने ताम्बे के रुपए) रखती थी। शिशु जन्म के तीन चार महीने बाद पुरोहित तथा महिला इस देवता की पूजा अखरोट या कैंथ के पेड़ के नीचे करते हैं। एक सफेद बकरा या काले सिर वाला सफेद बकरा प्रस्तुत कर उसके दाएं कान में काति से काट एक कपड़े के ऊपर खून गिराया जाता है। देवता को चार चकलियां तथा रोटी दी जाती है। महिला द्वारा गुड़ खाने के बाद कपड़े में रख लिया जाता है। यह कपड़ा तब तक रखा जाता है जब तक फटे नहीं।

गद्दी समाज में विवाह संस्कार एक महत्वपूर्ण संस्कार है। यह एक उत्सव की तरह मनाया जाता है। हर्षोल्लास के इस अवसर पर सभी संबंधित मिलकर खाते-पीते हैं। सुरा पी जाती है, बकरे कटते हैं, डंडारस नाच किया जाता है। दूसरा विवाह पहली पत्नी की मृत्यु होने पर या नि:सन्तान होने पर पहली पत्नी की अनुमति से किया जाता है।

वर-वधु के माता पिता की आपसी रजामंदी से विधिवत किया गया विवाह 'धर्म पुन्न' कहलाता है। सगाई पक्की होने पर वर पक्ष के कुछ लोग एक सेर शुद्ध घी लेकर वधु पक्ष के यहां जाते हैं। यहां पुरोहित दोनों पक्षों की सुविधानुसार तिथि निश्चित करता है। पुरोहित पूरा कार्यक्रम बनाकर देता है। जिसे 'लखणोतरी' कहा जाता है।

विवाह की सभी रस्में लगभग कांगड़ा की रस्मों की भांति हैं। यद्यपि स्थानीय परम्परा के अनुसार कुछ अतिरिक्त संस्कार भी जुड़े हैं।

विवाह का आरम्भ समूहत से होता है जिनमें वर को बूटणा (उबटन) लगा कर आंगन में नहलाया जाता है। क्योंकि यज्ञोपवीत पहले नहीं होता अत: इसी दिन मुंजमाला, मृगछाला, मुद्रा पहना कर ब्रह्मचारी बनाने के साथ यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। पुरोहित वर से पूछता है वह 'जतेरा जीवन' (सांसारिक जीवन) जीएगा या मतेरा जीवन (संन्यासी जीवन) ? वर जतेरा जीवन जीने के लिए कहता है।

तेल संस्कार मामा द्वारा एक कटोरी में तेल डाल कर वर के सिर पर रख हरी दूब से हिलाने के साथ होता है। दूब से तेल का छिड़काव किया जाता है। सभी सम्बन्धी भी ऐसा करते हैं। मामा द्वारा दिया सेहरा वर द्वारा पहना जाता है। मामी आंखों में सुरमा डालती है। माँ वर को तमोल लगाती है। वर को पालकी में बिठा अन्य लोगों के साथ वधु पक्ष के यहां ले जाया जाता है। बारात को 'जनेत' कहा जाता है। बारात बाजे-गाजे के साथ जाती है। वर की पालकी हाली उठाते हैं।

बारात को ठहरने के लिये अलग मकान दिया जाता है। वर के पिता, मामा तथा पुरोहित लुचियों का टोकरा लेकर जाते हैं। वे रात में तथा अगले दिनों होने वाले संस्कारों पर बातचीत करते हैं।

बारात को भोजन के लिये निमन्त्रण दिया जाता है। वर की ओर से कन्या को 'बरासूही' दी जाती है जो एक पिटारी या ट्रंक में होती है। इसमें वधु के लिए कपड़े, श्रृंगार की सामग्री, गुड़, नारियल, बादाम, लड्डू, केसर, न्हाणी (सुगंधित जड़ी) आदि होते हैं।

बारात के भोजन के बाद मुहूर्त के अनुसार पुरोहित वर को कन्या के घर ले जाता है जहां सास आरती उतारती है। ससुर वर के पैर धुलाता है। कन्या को बाहर लाया जाता है। वर तथा वधु के सिर तीन बार एक दूसरे से लगाए जाते हैं। चीरी संस्कार में मालती की लकड़ी के सात टुकड़े कन्या वर को देती है जिसे वह पांव के नीचे रख कर तोड़ता है।

कन्यादान तथा लग्न संस्कार कांगड़ा की भांति किए जाते हैं। कन्या का भाई कन्या का दुपट्टा फैलाता है जिस पर वर केसर के छींटे फेंकता है। कन्या भी वर के पटके पर केसर छिड़कती है। पुरोहित कन्या के हाथों में फल, फूल तथा कुछ पैसे रखता है। वर अपने हाथ कन्या के हाथों पर रखता है। पिता भी हाथ लगाकर पुरोहित द्वारा मन्त्रोच्चारण के साथ कन्यादान करता है। कन्यादान के बाद कन्या को घर के भीतर ले जाते हैं। वर कुछ संस्कार अकेला पूरे करता है जिन्हें मनिहार कहते हैं। फिर वर को भीतर ले जाते हैं जहां कामदेव की प्रतिमा बनी होती है। कन्या को वहां लाकर उसके बाल संवारे जाते हैं।

'खिलां खलाणी' संस्कार में एक छाज में जौ की खीलें रखी जाती हैं। वर ये खीलें तीन दिशाओं में रखता है, कन्या की बहनें इन्हें पुन: जल्दी से छाज में डालती हैं। यह बार-बार किया जाता है।

वर-वधु द्वारा अग्नि के फेरे लिए जाते हैं जो चार या सात हो सकते हैं। गोत्राचार में वर कन्या को अपने गोत्र में सम्मिलित करता है।

बारात वापिस आने पर दुल्हा-दुल्हन की आरती उतारी जाती है। सास बहु को कुछ भेंट देती है। वर-वधु से गणपति पूजन करवाया जाता है। दो परिवारों के पुरुष तथा महिला वर-वधु का कंगणा खोलते हैं। पुरुष वर का तथा महिला वधु का कंगणा खोल कर कंगण भाई या बहन बनते हैं। महिलाएं वधु का मुंह देखकर कुछ भेंट देती हैं।

एक विवाह में कम से कम चार धामें (भोज) दी जाती हैं। पहली समूहत के दिन, दूसरी बारात जाने के समय, तीसरी बारात वापसी पर तथा एक अगले दिन। धाम में बकरे कटने के साथ सुरा पान भी आवश्यक है।

गद्दी जनजाति में बाल-विवाह की प्रथा थी। जब बच्चे अभी गोद में ही होते थे तो उनका रिश्ता तय कर दिया जाता था। खेलने के दिनों में विवाह हो जाता था। यदि बचपन में विवाह हो जाए तो कन्या के युवा होने पर वर अपने सम्बन्धियों सहित वधु को लेने आता था। यह 'सदनोज' कहलाता है। यह कन्या के युवा होने पर होता है। इस बारात को वधु के घर तीन भोज दिए जाते हैं। यदि ये लोग शाम को आएं तो अगले दिन दोपहर का खाना खाकर जाते हैं। खाने में बकरे कटना आवश्यक है, सुरा भी पी जाती है। वर पक्ष की ओर भी धाम दी जाती है।

पुराने समय में कन्या की विदाई के समय बीस सेर आटे के बबरु, दो चोलू, दो लुआंचडियां, दस-पन्द्रह चुंडू, एक चादर तथा चार सेर गेहूं दिए जाते थे। दहेज में चांदी के आभूषण, भांडे-बरतन दिए जाते थे।

'बट्टा-सट्टा' एक लोकप्रिय विवाह पद्धति है। वर किसी कन्या से विवाह करने के बदले अपनी सगी बहन, ममेरी, फुफेरी या ताऊ-चाचा की लड़की को अपनी भावी पत्नी के भाई को प्रस्तावित करता है। अत: एक परिवार की कन्या या पुत्र का विवाह दूसरे परिवार के पुत्र या कन्या से होता है। इस प्रकार से विवाह भी सुगम रहता है और सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होते हैं।

'झंझराड़ा' पद्धति को गुदानी या चोली डोरी भी कहते हैं। पति की मृत्यु के बाद विधवा अपने पति के भाई से विवाह करती थी। किन्हीं स्थानों में विधवा किसी भी पुरुष से विवाह कर सकती है। विधवा स्त्री तथा पुरुष को कुम्भ तथा दीपक के पास बिठा दिया जाता है। स्त्री के बाल बनाए जाते हैं। पुरुष की ओर से स्त्री को नथ पहनने के लिए दी जाती है। विवाह के बाद भोज दिया जाता है। ऐसे विवाह में पुरोहित का होना आवश्यक नहीं है। कोई भी पुरुष किसी विधवा स्त्री से झंझराड़ा कर सकता है।

'घर जवांतरी' विवाह या घर जंवाई विवाह की प्रथा भी गद्दियों में कुछ अनोखे ढंग से प्रचलित है। वर को विवाह करने की खातिर अपने होने वाली ससुराल में सात से दस वर्ष तक रहना पड़ता है। वह नौकर की भांति काम करता है। उसे लगातार वहीं रहना पड़ता है। यदि बीच में वह कहीं चला जाए तो रहने की अवधि बढ़ा दी जाती है। उसे अपने ससुर का हर कार्य करना पड़ता है। ससुर के प्रसन्न होने पर विवाह होता है। अवधि पूरी होने पर जब दूल्हा अपने घर वापस जाता है तो विवाह कर दिया जाता है।

'रीत' की भांति खेवत विवाह गद्दी जनजाति में प्रचलित है। यदि कोई पुरुष स्त्री के पहले पति को विवाह का पूरा खर्चा हरजाने सहित अदा कर दे तो वह उस पुरुष से विवाह कर सकती है। प्रथम पुरुष यदि मान जाए तो स्त्री द्वारा ऐसा दूसरा विवाह किया जाना सम्भव है। किन्नौर की ओर इसे 'इज्जत' कहते हैं। यह विवाह स्त्री को पति गृह में मान-सम्मान न मिलने, पति का किसी अन्य स्त्री से प्रेम संबंध होने आदि के कारण होता है।

इस विवाह पद्धति में कन्या का पिता, वर या वर के माता-पिता से कन्या के बदले रुपए लेता है। यह राशि पांच सौ रुपए से लेकर हजार तक हो सकती है। राशि के भुगतान पर कन्या का विवाह कर दिया जाता है।

यदि माता-पिता कन्या का मनचाहे युवक से विवाह न करें तो वह अपने प्रेमी युवक के साथ भाग जाती है। दोनों झिंड अर्थात् झाड़ियाँ जलाकर अग्नि के फेरे लेकर विवाह कर लेते हैं। बाद में इस विवाह को मान्यता तो मिल जाती है किन्तु कन्या का घर से भागना एक ग्लानि उत्पन्न कर जाता है। यदि कभी विवाह से पूर्व लड़की मिल जाए तो उसे जबरदस्ती घर भी वापिस लाया जाता है।

गद्दी जनजाति में विवाह एक पवित्र बन्धन माना जाता है अत: सामान्यत: विवाह-विच्छेद की नौबत नहीं आती। यदि कोई झगड़ा हो जाए तो पंचायत के हस्तक्षेप से दहेज की वस्तुएं या नकदी पति को वापिस देनी पड़ती हैं। विच्छेद होने पर बच्चे पिता के घर रहते हैं। यदि गर्भ में शिशु हो तो वह भी जन्म के बाद पिता को सौंप दिया जाता है। स्त्री अकेली दूसरे पति के घर चली जाती है।

सुदर्शन वशिष्ठ
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी
शिमला - 171001

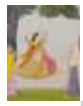

बूँदी का कडाली तीज मेला

दिनेश विजयवर्गीय

राजस्थान रंग-बिरंगी तीज त्यौहारी संस्कृति लिए अपनी विशेष पहचान रखता है और यदि दिन सावन-भादों वाली वर्षा के हों तो त्यौहारी आनन्द लोगों के दिलों में स्वत: ही दस्तक देने लगता है।

ऐसे में हरी-भरी अरावली की श्रृंखला में बहते कल-कल झरनों का मौसम घर-घर में त्यौहारी मुस्कान के रंग बिखेर देता है। त्यौहारों पर लगने वाले मेलों में सामाजिक समरसता और भाई-चारे की परम्परा को बनाए रखने की विशेषता होती है।

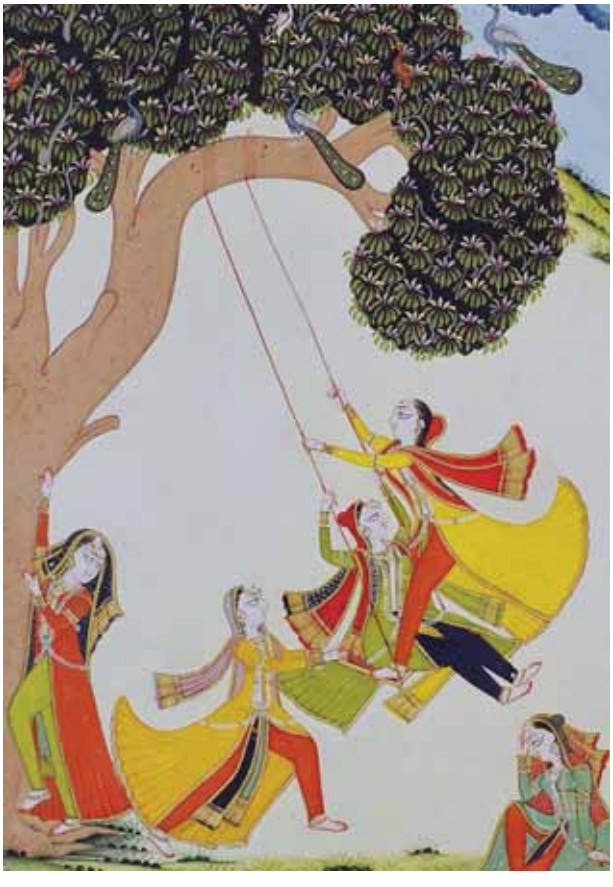

त्यौहार का आमोद

राजस्थान में त्यौहारी सरगम मेघ-मल्हार गाते सावन माह की तीज से प्रारंभ होकर गणगौर के रस-रसीले त्यौहार तक चलती है।

महिलाओं के मांगलिक सुहाग से जुड़े तीज-गणगौर त्यौहारों की बात ही कुछ और है। महिलाएं अपने सुहाग की मंगल कामना के लिए जहां इन त्यौहारों पर पूजा-अर्चना करती हैं। वहीं कई स्थानों पर लोक-लुभावन झांकियां भी निकाली जाती हैं।

राजस्थान में तीज-त्यौहार पर भी ऐसी ही भव्य सवारी निकाली जाती है। इसमें श्रावण शुक्ल तृतीया को जयपुर में तीज की सवारी निकलती है। यह परम्परा आजादी से पूर्व राजाओं के समय से चली आ रही है।

बूंदी में लगभग 186 वर्षों से तीज मेला लगता है। इस मेले में बूंदी शहर के आस-पास के ग्रामीण अंचल के लोग बड़ी संख्या में तीज माता के दर्शन करने और मेले की झाकियां देखने के लिए आते हैं।

इसी के साथ भाद्रपद की तृतीया पर बूंदी छोटी काशी में भी तीज की भव्य सवारी निकाली जाती है। वर्षा ऋतु में हरी-भरी व शीतल धरती और नदी नालों की कल-कल के चलते इस तीज के त्यौहार का उत्साह व उमंग देखते ही बनता है। तीज महिलाओं के लिये सज-धज वाला मांगलिक त्यौहार है। विवाहित महिलाएं अमर सुहाग हेतु मां पार्वती की पूजा अर्चना करती हैं।

बूंदी में लगभग 186 वर्षों से तीज मेला लगता है। मेले सामाजिक मेल-मिलाप बढ़ाने और सांस्कृतिक जीवन बनाए रखने में बड़े मददगार होते हैं। इस मेले में बूंदी शहर के आस-पास के ग्रामीण अंचल के लोग बड़ी संख्या में तीज माता के दर्शन करने और मेले की झाकियां देखने के लिए आते हैं। ग्रामीणों की अपनी दिलीमस्ती होती है। यह ढोल-मजीरों अलगोजे की धुनों पर नाचते गाते और हाथ में छाता

घुमाते नजर आते हैं। तभी लगता है कि मेले हमारे जीवन में नई उमंग भरने में सक्षम हैं।

बूंदी में तीज मेला प्रारम्भ होने की भी एक रोचक घटना है। बूंदी रियासत में गोठड़ा के ठाकुर बलवंत सिंह पक्के इरादे वाले जांबाज सैनिक भावना से ओतप्रोत व्यक्ति थे। एक बार अपने किसी मित्र के यह कहने पर कि जयपुर में तीज की भव्य सवारी निकलती है, यदि अपने यहां भी निकले तो शान की बात रहे। कहने वाले साथी ने तो यह बात सहज में कह दी पर ठाकुर बलवंत सिंह के दिल में टीस-सी लग गई। उन्होंने जयपुर की उसी तीज को जीत कर लाने का मन बना लिया। ठाकुर अपने ग्यारह विश्वसनीय जांबाज सैनिकों को लेकर सावन की तीज पर जयपुर सवारी स्थल पर पहुंच गए।

निश्चित कार्यक्रम के अनुसार जयपुर के चहल-पहल वाले बाजारों से तीज की सवारी, शाही तौर-तरीके से निकल रही थी। ठाकुर बलवंत सिंह हाड़ा अपने जांबाज साथियों के पराक्रम से जयपुर की तीज को गोठड़ा ले आए और तभी से तीज माता की सवारी गोठड़ा में निकलने लगी।

ठाकुर बलवंत सिंह की मृत्यु के बाद बूंदी के राव राजा रामसिंह उसे बूंदी ले आए और तभी से उनके शासन काल में तीज की सवारी

भाद्रपद की तृतीया पर बूंदी छोटी काशी में भी तीज की भव्य सवारी निकाली जाती है। वर्षा ऋतु में हरी-भरी व शीतल धरती और नदी नालों की कल-कल के चलते इस तीज के त्यौहार का उत्साह व उमंग देखते ही बनता है। तीज महिलाओं के लिये सज-धज वाला मांगलिक त्यौहार है। विवाहित महिलाएं अमर सुहाग हेतु मां पार्वती की पूजा अर्चना करती हैं।

भव्य रूप से निकलने लगी। इस सवारी को भव्यता प्रदान करने के लिए शाही सवारी भी निकलती थी। इसमें बूंदी रियासत के जागीरदार, ठाकुर व धनाढ्य लोग अपनी परम्परागत पोशाक पहनकर पूरी शानो-शौकत के साथ भाग लिया करते थे। सैनिकों द्वारा शौर्य का प्रदर्शन किया जाता था।

सुहागिनें सजी-धजी व लहरिया पहन कर तीज महोत्सव में चार चांद लगाती थीं। इक्कीस तोपों की सलामी के बाद नवल सागर

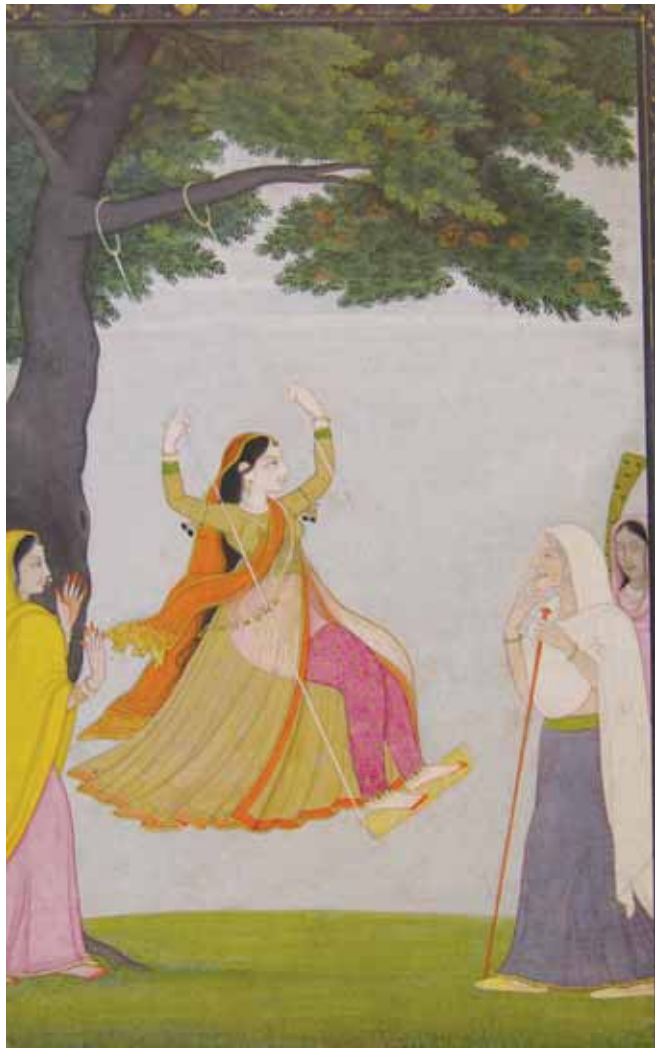

आनंदमग्न युवतियां

झील के सुंदरघाट से तीज सवारी प्रमुख बाजार से होती हुई रानी जी की बावड़ी तक जाती थी। वहां पर सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। नृत्यांगनाएं अपने नृत्य से दर्शकों का मनोरंजन करती थीं। करतब दिखाने वाले कलाकारों को सम्मानित किया जाता था और अतिथियों का आत्मीय स्वागत किया जाता था। मान-सम्मान एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के बाद तीज सवारी वापिस राजमहल में लौटती थी।

दो दिवसीय तीज सवारी के अवसर पर विभिन्न प्रकार के जन मनोरंजन कार्यक्रम भी आयोजित किए जाते थे, जिनमें दो मदमस्त हाथियों का युद्ध होता था, जिसे देखने लोगों की भीड़ उमड़ती थी।

तीज माता की प्रतिमा

तीज माता

स्वतंत्रता के बाद भी तीज की सवारी निकालने की परंपरा बनी हुई है। अब दो-दिवसीय तीज की सवारी निकालने का दायित्व नगर पालिका उठा रही है। राजघराने द्वारा तीज की प्रतिमा को नगरपालिका को नहीं दिए जाने से तीज की दूसरी प्रतिमा निर्मित करा कर प्रतिवर्ष भाद्रपद माह की तृतीया को तीज सवारी निकालने की स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा बनी हुई है।

यद्यपि कुछ समय तक राजघराने की तीज भी राजमहलों के अन्दर ही निकलती रही। लेकिन कालान्तर में सीमित दायरे में तीज की सवारी का निकलना बंद हो गया। केवल नगरपालिका द्वारा निकाली जा रही तीज माता की सवारी ही आम जनता के दर्शनार्थ निकाली जा रही है। पिछले दो वर्षों से जिला प्रशासन के विशेष अनुरोध और आश्वासन के बाद राजघराने की तीज भी अब तीज सवारी में निकाली जा रही है।

अब तीज का त्यौहार यहां लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता है। राज्य सरकार बूंदी के पन्द्रह दिवसीय तीज मेले के लिए विशेष बजट का प्रावधान करती है। कुंभा स्टेडियम में आयोजित तीज मेले में चलने वाले कार्यक्रमों में विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। इसमें कवि सम्मेलन, कव्वाली, अलगोजे एवं स्कूली छात्र-छात्राओं द्वारा विभिन्न कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं। दर्शकों के लिए ये मनोरंजन के खास आकर्षण होते हैं। मेले में विभिन्न सामानों की दुकानों, बच्चों के झूले, सर्कस व अजीबो-गरीब कारनामों का भी अपना आकर्षण होता है। महिलाओं का मीना बाजार अपनी लकदक सुर्खियों में रहता है।

यह सच है कि आज टी.वी. संस्कृति ने लोकानुरंजन के इन परम्परागत कार्यक्रमों के आकर्षण को काफी कम कर दिया है, फिर भी वर्षा ऋतु के मौसम की इस कजली तीज मेले के प्रति यहां के श्रद्धालुओं में आज भी उत्साह बना हुआ है। तीज माता की सवारी देखने दूर-दूर के शहरों और आसपास के गांवों से बड़ी संख्या में लोग आते हैं। आखिर वह जिले का लोकप्रिय वार्षिक मेला जो ठहरा!

दिनेश विजयवर्गीय
मार्ग 4, सी-215 रजत कॉलोनी
बूंदी - 323001 (राज.)
Email : dineshbundi@rediffmail.com

मिथिला और बंगाल का सांस्कृतिक संबंध

हेमचन्द्र झा

भारत सदैव से एक संस्कृति प्रधान देश रहा है। यहां की सभ्यता और संस्कृति ने सदैव ही दूसरे देशों को प्रभावित किया है। यहाँ हिमालय की उत्तुंग श्रृंखला से लेकर कन्याकुमारी तक और कच्छ से मिजोरम तक बहुविध संस्कृतियों की झलक देखी जा सकती है जो अनेकानेक रूप लिए एकता की द्योतक है। भारतीय संस्कृति की प्राचीन परंपरा मिथिला में आज भी देखी जा सकती है। वस्तुत: मिथिला अति प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति का संवाहक रहा है। यह क्षेत्र वर्ष भर चलने वाले त्योहारों और लोक संस्कारों के लिए पूरे देश ही नहीं अपितु पूरी दुनिया में जाना जाता है।

मिथिलांचल में जनवरी की तिला संक्रांति (मकर संक्रांति) से लेकर नवम्बर-दिसम्बर में नवान्न (नये अन्न का पहले दिन प्रयोग) तक त्योहारों की एक लंबी फेहरिस्त है। इन त्योहारों के बीच यहां आयोजित किया जाने वाला लोक संस्कार/लोक उत्सव यहाँ के वातावरण को सदैव आनन्दमय बनाए रखता है। यद्यपि मिथिलांचल में आयोजित किया जाने वाला प्राय: प्रत्येक त्योहार किसी न किसी रूप में देश के प्राय: हर भाग में मनाया जाता है, तथापि मिथिला एवं बंगाल की सांस्कृतिक परंपराओं/त्योहारों में पर्याप्त साम्यता है। वासंती नवरात्र हो या शारदीय नवरात्र या काली पूजा या सरस्वती पूजा (वसंत पंचमी) दोनों जगह की परंपराएं लगभग एक जैसी हैं।

विद्यापति पदावली ने बंगाल के अलावा असम, उड़ीसा, नेपाल और समस्त उत्तर भारत को प्रभावित किया। इस संबंध में यहां इस बात का उल्लेख करना विषयांतर नहीं होगा कि मिथिलाक्षर तथा बंगाक्षर में पर्याप्त साम्यता है।

वैसे तो सतही तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मिथिला और बंगाल के बीच दूरी का कम होना इसका प्रमुख कारण है। आज की तेज गति की दुनिया में यह दूरी भले ही कम लगे लेकिन आज से 1000-1500 वर्ष पहले यह दूरी पर्याप्त थी। सांस्कृतिक संबंध बनने की प्रक्रिया कोई दो-चार दिन की नहीं होती है, वरन् इसमें सदियाँ लग जाती हैं। अत: इस बात का विश्लेषण अपने आप में दिलचस्प होगा कि मिथिला एवं बंगाल की सांस्कृतिक परंपराओं की साम्यता के पीछे क्या वजह है?

मिथिला एवं बंगाल के बीच सांस्कृतिक संबंध होने का पहला पुष्ट प्रमाण लगभग 640 ई. का है। उस समय त्रिपुरा (विस्तृत बंगाल का एक भाग) के राजसिंहासन पर आदिधर्मपा नामक राजा का राज्य था। वह बड़ा ही प्रतापी और प्रजापालक था। लेकिन दुर्दैव से उनके राजप्रासाद पर गिद्ध (एक पक्षी) बैठ गया। किसी भवन पर गिद्ध का बैठना उस समय अपशकुन माना जाता था। इस अपशकुन के कारण राजा चिंतित हो उठे और इसके निवारणार्थ उपाय सोचने लगे। अंतत: उसने मिथिला से विद्वान ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञादि कराने का निश्चय किया और उनके आग्रह पर तत्कालीन मिथिला नरेश श्री बलभद्र ने कृपापूर्वक 5 ब्राह्मणों को वहाँ जाने की अनुमति दी। वत्स, वात्स्य, भारद्वाज, कृष्णात्रेय और पाराशर गोत्रीय यज्ञकर्मरत 5 वैदिक ब्राह्मण जिनका नाम क्रमश: श्रीनन्द, आनन्द, गोविन्द, श्रीपति और पुरुषोत्तम था, मिथिला नरेश की आज्ञा पाकर त्रिपुरा पहुंचे और विधिवत् यज्ञ सम्पन्न करवाया। जब ये ब्राह्मण लौटने लगे तो त्रिपुरा नरेश ने उनसे वहीं रुक जाने का निवेदन किया। त्रिपुरा नरेश की प्रार्थना पर वे पाँचों ब्राह्मण वहीं बस गए। बाद में उन्होंने मिथिला से अन्य गोत्र के पांच और ब्राह्मणों को बुला लिया ताकि उपनयन (यज्ञोपवीत), विवाह आदि निर्विघ्न सम्पन्न हो सकें। इस प्रकार लगभग 640 ई. में मिथिला और बंगाल सांस्कृतिक दृष्टि से निकट आ चुके थे।

एक बड़े समयांतराल तक मिथिला और बंगाल के राजनीतिक एकीकरण ने इनके सांस्कृतिक एकीकरण को बढ़ावा दिया। उत्तरी भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद अराजकता का माहौल पैदा हो गया था। जहाँ-तहाँ सामन्तों और जमींदारों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और जनता का भयावह शोषण होने लगा। ऐसी ही स्थिति में बंगाल में पाल वंश का उदय हुआ और उसने मिथिला को अपने अधीन कर लिया। मिथिला पाल साम्राज्य के पंचगौड़ में से एक गौड़

बन गया तथा पाल साम्राज्य की पश्चिमी सीमा गंडक नदी को छूने लगी (लगभग 750 ई.)। मिथिला पर पाल वंश ने लगभग 400 वर्षों तक राज्य किया तथा इसी बीच मिथिला और बंगाल के बीच विद्वत्जनों का आदान-प्रदान होता रहा। पाल राजा बौद्ध मतावलंबी थे और उन्होंने मिथिला में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार को प्रश्रय दिया। स्वभावत: बंगाल से अपनी परंपरा लेकर बौद्ध मतावलंबी यहां आए तथा यहां की परंपरा विद्वानों के द्वारा बंगाल पहुंची और इससे सांस्कृतिक समन्वय की परंपरा को बल मिला। आज भी बौद्ध धर्म के भग्नावशेष मिथिला में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जो पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा अन्वेषण किए जाने की बाट जोह रहे हैं।

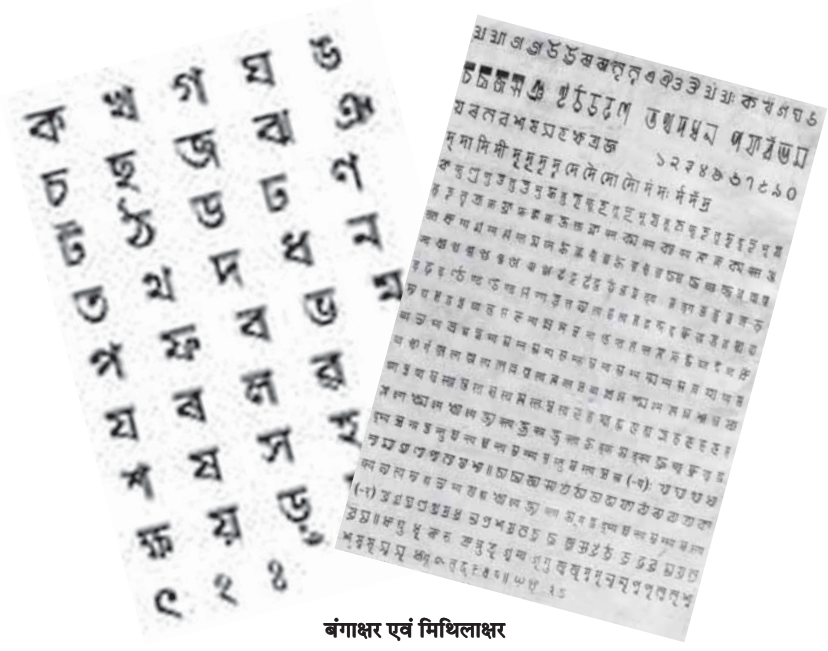

बंगाक्षर एवं मिथिलाक्षर

मिथिला सदैव से संस्कृत-शिक्षा का एक महती केन्द्र रहा है। मिथिला में पाल शासन की स्थापना से पहले यहां मुख्यतया ब्राह्मण दर्शन का पठन-पाठन होता था। गौतम, कपिल, कणाद, जैमिनी आदि ऋषियों की गुरु-शिष्य परंपरा यहां सदियों तक कुल/चटसार के रूप में जीवित रही। इन कुलों/चटसारों में न केवल स्थानीय छात्र अध्ययनरत् थे, वरन् बंगाल, उड़ीसा और असम के ज्ञान-पिपासु छात्र भी यहां अध्ययन के लिए आते थे। ये सभी वापस अपने क्षेत्र जाते हुए यहां की परंपराएं भी साथ ले जाते थे। मिथिला पर पाल शासन की स्थापना से ब्राह्मण दर्शन की पताका मुरझाने लगी तथा बौद्ध दर्शन और ब्राह्मण दर्शन के जानकारों के बीच परस्पर वाक्युद्ध आम हो गया। इन्हीं विंडबनाओं से प्रेरित होकर ठाढ़ी (अंधराठाढ़ी, मधुबनी) के मिश्र कुल के छात्र उदयनाचार्य ने बंगाल में ब्राह्मण दर्शन के दिग्दर्शन का बीड़ा उठाया और इस प्रकार दो दर्शनों की आपसी नोंक-झोंक ने दो अलग संस्कृतियों को एक साथ लाने में बड़ी भूमिका निभाई। इतना ही नहीं ब्राह्मण दर्शन के दिग्दर्शनार्थ उदयनाचार्य बंगाल में ही बस गए। वहां उनके वंशज आज भी विद्यमान हैं।

लगभग 1150 ई. में मिथिला में पाल शासन समाप्त हो गया। अंतिम पाल शासक मदनपाल को हराकर कर्णाट नान्यदेव ने मिथिला में कर्नाट वंश की नींव डाली। कर्नाट राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। संयोग से उस समय बंगाल में सेन वंश की सत्ता थी, जो पाल वंश को समूल समाप्त करके स्थापित की गई थी। सेन वंश के राजा भी ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। अत: उन्होंने मिथिला से विद्वान ब्राह्मणों को अपने राज्य में आमंत्रित किया तथा स्वभावत: मिथिला और बंगाल सांस्कृतिक दृष्टि से निकट आ गए। ऐसी स्थिति में मिथिला में एक बार फिर ब्राह्मण दर्शन की पताका जोर-शोर से लहराने लगी। एक बार फिर ज्ञान-पिपासु छात्रों का समूह मिथिला की ओर उमड़ा। यद्यपि अब तक बंगाल के नवद्वीप और शांतिपुर में संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र स्थापित हो चुका था, लेकिन संस्कृत के क्षेत्र में मिथिला की ख्याति, पांडित्यसूचक प्रमाण पत्र मिथिला से ही मिलने की परंपरा, गंगेश के नव न्याय दर्शन को सुलझाने में मिथिला के चटसारों/कुलों की क्षमता के कारण छात्रों का समूह मिथिला आता ही रहा। बंगाल के नदिया में नव्य-न्याय के अध्ययन का सत्रहवीं शताब्दी में श्रीगणेश करने वाले बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान स्वनामधन्य रघुनाथ शिरोमणि मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र के शिष्य थे।

मिथिला की प्रसिद्ध पंजी व्यवस्था जिसका श्रीगणेश कर्नाटवंशीय शासक हरिसिंह देव ने किया था, ने बंगाल की सामाजिक व्यवस्था पर

अपना प्रभाव छोड़ा और वहां इसी के सदृश 'कुलजी' प्रथा का जन्म हुआ। पंजी व्यवस्था के समान असम में 'बुरंजी', उड़ीसा में 'मदलता' आदि का चलन शुरू हुआ। ये प्रथाएं आज भी वहां विद्यमान हैं।

अब तक मिथिला के मानस पटल पर कविशेखर विद्यापति का उदय हो चुका था। (लगभग 1350 से 1450 ई.) उनकी 'देसिल बयना' को आम जनता ने सहजता से अपनाया तथा शीघ्र ही उनके गीत मिथिला की गलियों में गाए जाने लगे। जब ये पद बंगाली छात्रों के कान में पड़े तो वे आत्मविभोर हो उठे तथा उन्होंने संस्कृत के अध्ययन के साथ-साथ इनका भी अध्ययन-मनन किया। जाते-जाते ये छात्र अपने साथ विद्यापति के मधुर गीत भी ले गए, जो बंगाल में खूब चले। वहाँ भी इन पदों से मिलते-जुलते पदों की रचना होने लगी और बंगालियों ने महाकवि को अपना कवि भी मान लिया। इतना ही नहीं विद्यापति पदावली ने बंगाल के अलावा असम, उड़ीसा, नेपाल और समस्त उत्तर भारत को प्रभावित किया। इस संबंध में यहां इस बात का उल्लेख करना विषयांतर नहीं होगा कि मिथिलाक्षर तथा बंगाक्षर में पर्याप्त साम्यता है। कौन-सी लिपि का सृजन पहले हुआ तथा कौन-सी लिपि का बाद में, यह विवाद का विषय हो सकता है, परंतु इतना तो निर्विवाद है कि महाकवि विद्यापति की पदावलियों ने सांस्कृतिक एकीकरण के कार्य को और तीव्रता प्रदान की और जो सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक एकीकरण, विद्वानों के आदान-प्रदान और संस्कृत के छात्रों के आवागमन से अधूरी रह गई थी, उसे पूरा कर दिया।

मिथिला और बंगाल के सांस्कृतिक एकीकरण की यह प्रक्रिया यहीं नहीं रुकी, वरन् यह अबाध गति से आगे भी चलती रही। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में विद्यापति के पश्चात् मिथिला की राजनीतिक परिस्थितियों की भी अहम् भूमिका रही।

विद्यापति के आविर्भाव काल में मिथिला पर ओईनवार वंश का शासन था। ओईनवार राजा ब्राह्मण दर्शन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, अत: इनके काल में मिथिला में ब्राह्मण दर्शन का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। महाकवि इसी वंश के शासक महाराज शिविसिंह के समकालीन थे। उस समय जौनपुर का शासक इब्राहीम शाह था और वह यदा-कदा मिथिला पर आक्रमण कर देता था, जिससे मिथिला में अशांति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। परंतु जब 1494 ई. में दिल्ली सल्तनत ने जौनपुर को अपने अधीन कर लिया तो तत्कालीन मिथिला नरेश श्री रामभद्र सिंह रूपनारायण ने मिथिला में शांति स्थापना के उद्देश्य से दिल्ली सल्तनत से मित्रता कर ली। इस प्रकार मिथिला में थोड़े समय के लिए शांति स्थापित हो सकी। परंतु बंगाल के मुस्लिम शासक हुसैन शाह को मिथिला की शांति पसंद नहीं थी। वह उस दिन का इंतजार कर रहा था, जिस दिन मिथिला पाल शासन काल की तरह बंगाल का अंग बने। परंतु पश्चिम में दिल्ली सल्तनत जैसी मजबूत राजनीतिक शक्तियों की वजह से वह चुप बैठा था। लेकिन जैसे ही 1526 ई. में बाबर के हाथों इब्राहीम लोदी की पराजय से दिल्ली सल्तनत का पतन हुआ, बंगाल के नवाब ने 1527 ई. में मिथिला पर आक्रमण कर दिया तथा ओईनवार वंश के अंतिम शासक महाराज लक्ष्मी सिंह कंसनारायण को हराकर मिथिला से ओईनवार वंश के शासन का अंत कर दिया। मिथिला में सर्वत्र अशांति छा गई। अशांति का यह दौर अकबर द्वारा महामहोपाध्याय महेश ठाकुर को मिथिला का राज्य सौंपे जाने तक चलता रहा।

1526 ई. से 1556 ई. का काल संपूर्ण उत्तरी भारत के लिए राजनीतिक अस्थिरता का काल रहा। इस बीच शेरशाह और हुमायूं के बीच दिल्ली की गद्दी के लिए रस्साकशी चलती रही और मिथिला में भी अशांति रही। इस रस्साकशी की वजह से बंगाल के नवाब का ध्यान सदैव पश्चिम की ओर लगा रहा और उत्तरी बंग (वारेन्द्र) और भानुगाछ में स्थापित ब्राह्मण वंश की सत्ता फलती-फूलती रही। चूंकि ये दोनों राज्य मिथिला के निकट थे, अत: अशांति से बचने के लिए मिथिला का विद्वत वर्ग उक्त दोनों राज्यों में पहुंचता रहा और इन राजनीतिक अस्थिरताओं के बीच भी सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया चलती रही। इसी समय बंगाल के नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु (1486 ई. से 1533 ई. के बीच) की वैष्णवी धारा उद्दाम वेग से बह रही थी। महाप्रभु ने मूर्तिपूजा, कीर्तन, उपासना और अवतारवाद को महत्व दिया और कीर्तन के माध्यम से भक्ति पर जोर दिया। स्वभावत: विद्यापति के जो गीत बंगाल पहुंचे उनका महाप्रभु की कीर्तन मंडली में स्वागत हुआ। इतना ही नहीं गोविन्ददास के पद भी बंगाल पहुंचे और उनके पदों का भी वहां स्वागत हुआ। चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से विद्यापति और गोविन्ददास के गीत बंगाल के कोने-कोने में फैल गए।

मिथिला की विकट राजनीतिक परिस्थितियों के कारण यहाँ के विद्वान महाप्रभु की वैष्णवी धारा से जुड़ने लगे। और तो और महामहोपाध्याय महेश ठाकुर के मामा विष्णुपुरी, परमानन्दपुरी तो महाप्रभु के पार्षद ही हो गए। इस प्रकार मिथिला और बंगाल का सांस्कृतिक संबंध पुन: दिनोंदिन बढ़ने लगा। क्या मैथिल और क्या बंगाली दोनों की परंपराएं एक ही हो गईं, दोनों की सभ्यता और संस्कृति एक हो गई, जो बहुत हद तक आज भी विद्यमान है।

हेमचन्द्र झा
म.सं. 992, सेक्टर - 55,
फरीदाबाद - 121004 (हरियाणा)

संस्कार एवं संस्कृति, साइबेरिया के मनोगगन में

डॉ. लोकेश चन्द्र

"जब तक मेरी एक आंख में ज्योति है मैं डॉ. लोगिशचन्द्र को देखना चाहता था। आपको देखकर आनन्द के सागर में निमग्न हूं।" ये शब्द हैं पंडित हाम्बोलामा जाम्बल्दोर्ज गोम्बोयेफ़ के। स्थान है – शिबिर की विशाल हिमस्थलियों के बुर्यात गणराज्य की राजधानी उलानुदे का विमानक्षेत्र। अगस्त 1972 की ढलती दोपहरी। साँय-साँय करती हड्डियों को चीरती हुई हिममयी वायु। पंडित हाम्बोलामा सोवियत-संघ के बौद्ध संघराज हैं। उनके साथ दुभाषिया, प्राध्यापक, राज्य-प्रतिनिधि, मन्दिर के भिक्षु-गण, आदि हैं। सब के हृदयों की ऊष्मा, मेरे शीत को दूर करती है। इस ऊष्मा में शिबिर की शतियां प्रतिबिम्बित हैं। शिबिर का निवासी भारत को पुण्यभूमि, तथागत की जन्मभूमि मानता है। भारतीय उसके लिए पुण्य पुरुष है। वर्तमान ऋतु में भी हलका-हलका पाला पड़ने लगा है। सोवियत संघ में सब कुछ पक्का और हृष्टपुष्ट था। सुदृढ़ मोटर में बैठ, हम सब इवोल्गा विहार की ओर चल पड़े। सड़कें कच्ची-पक्की हैं। गाड़ी हट्टी-कट्टी होने के कारण ही इन दुर्गम सड़कों को पार कर सकती है। गाड़ी के कांच बन्द कर दिए हैं, थोड़ा-सा खुलने पर ठंड की झंझा अन्दर आ जाती है। पंडित हाम्बोलामा ने अपने स्नेहभरे हाथ मेरे हाथों में डाल दिए हैं। ऊबड़-खाबड़ मार्ग में मोटर यात्रियों को झूले देती जा रही है। हाम्बोलामा ने अपने हास्य-विनोद से मोटर के धक्कों को गौण बना दिया। मैंने पूछा – आपने मन्दिर इतनी दूर क्यों बनाया? बोले – "मेरी इच्छा चलती तो और दूर बनवाता। मैं बूढ़ा हो गया। उत्कट इच्छा थी कि आपको फिर से अपने देश में देखूं। एक सप्ताह से प्रतीक्षा कर रहा हूं।" सारा मार्ग गाड़ी में अपनी भुजा मुझ पर रखे बैठे रहे।

> **शिबिर का निवासी भारत को पुण्यभूमि, तथागत की जन्मभूमि मानता है। भारतीय उसके लिए पुण्य पुरुष है।**

रात्रि के 8.00 बजे मन्दिर पहुंचते ही मधुपर्क से स्वागत किया। मधुपर्क में दही, मधु, दूध और दाखें थीं। मेरी प्रगाढ़ इच्छा के कारण पहली बार शिबिर के मन्दिर में ठहरना हुआ। मन्दिर का अतिथिवास लकड़ी का बना है। भूमि से दो फुट ऊंचा उठाकर निर्माण किया गया है। मुख धोने का प्रयत्न किया पर पानी इतना ठंडा था कि मुंह को लगाना असंभव था। सबको हंसी आई फिर भी पानी उष्ण करके लाए। हाथ मुंह धोकर भोजन पर बैठे। भोजन कक्ष में आसन्दियों (कुर्सियों) की पीठ पर पद्म अंकित थे। शिबिर देश में पद्म अष्टमंगल में से एक है। प्रत्येक शिबिर-वासी अष्ट-मंगल गिनवा सकता है पद्म, ध्वज, शंख, पूर्णकलश, चक्र, छत्र, मीन और श्रीवत्स। ये जीवन में सुख, समृद्धि और शान्ति के दायक हैं। भोजन-कक्ष की भित्ति पर लेनिन महान् के दो चित्र और प्रधानमंत्री कोसिगिन का एक चित्र लटका था। दो घण्टे तक भोजन चलता रहा। सोवियत संघ में सायं भोज छः से आठ तक चलता था। सोने के कक्ष में दुहरी भित्ति है। दो भित्तियों के बीच आग जलाने का स्थान है। शिबिर के जंगलों से आए पेड़ों के बड़े-बड़े तने इसमें डाल दिए गए। घंटे भर में कमरा उष्ण हो गया। सामने मन्दिरों के सुवर्णिम शिखर हैं। श्वेत रात्रि है। पर्वतों के आंचल में, पेड़ों की हरियाली में, लाल खम्बे और सुनहरे शिखरों की अनुपम छटा है। चारों ओर नीरव है, निर्वाण है। रात्रि की झुरमुट गहरी होती जा रही है। मन्दिरों की छतों से लटकती हुई सहस्रशः घंटियां पवन के झोंकों से गुंजित हो रही हैं। सारा वातावरण ऐसा है मानो साधना के लिए बना हो। रात ढलती जा रही है। सुखद निद्रा में सो गया।

प्रातः हो गई। "स्नान कहां करेंगे" भिक्षु ने पूछा। "जहां आप कराएंगे" – मैंने उत्तर दिया। भिक्षु बोले – "हम नदी में स्नान करते हैं" और हंस पड़े। "आप नदी में स्नान नहीं कर सकेंगे। जैसे रूसी 'बानिया' अर्थात् बन्द कमरे में स्नान करते हैं वैसे ही आप स्नान करेंगे।" शिबिर में दैनिक स्नान असंभव है।

अगले दिन पूर्वाह्न 11.00 बजे मन्दिर में अभिनन्दन हुआ। मन्दिर में सहस्र-बुद्ध प्रतिमाएं, नवरत्न से लिखी हस्तलिपियां, विशाल

पटचित्र, कांस्य-प्रतिमाएं और अनेक वाद्य थे। यह भवन 1972 में ही पूरा हुआ था और फरवरी में इसकी प्राण-प्रतिष्ठा का समारोह सम्पन्न हुआ था। सात सौ व्यक्ति बैठ सकते हैं। वाद्य बजने लगे और पंडित हाम्बोलामा ने डमरू और वज्रघण्टा से तान्त्रिक पूजा का प्रारम्भ किया। शिबिर-वासियों के मेघमन्द्र स्वर में उच्चारित मन्त्रों और वाद्यों के ओजस्वी स्वर से सारा वायुमण्डल ऊष्मा से भर गया और बाहर की उग्र शीत वायु को सब भूल गए। मेरी दृष्टि कभी-कभी इधर-उधर चली जाती और कलाकृतियों का कालनिर्णय मन में प्रश्न बन जाता। नागालंकृत ढोल पर आघात होते ही पाठ की ओर ध्यान चला जाता। मंजुश्री-हृदय और गगनविमलोष्ण-धारिणी में संस्कृत के शब्द सुनाई देने लगते। घंटे तक पूजा चली। समाप्त होने पर मैंने पंडित हाम्बोलामा से हस्तलिपि दिखाने का निवेदन किया। उन्होंने मुझे भारत लाने के लिए उधार दे दी। इसमें संस्कृत संगीति रंजना, स्वयंभूज्योति लिपियों में लिखी है।

मन्दिर के पुस्तकालय में विशिष्ट निधियां हैं। 1962 में बना तान्त्रिक देवता हेरूक का मण्डल मध्य में है। कलाकार शनै:शनै: दिवंगत होते जा रहे हैं और नई पीढ़ी शिल्पशास्त्रों से अनभिज्ञ है। इसलिए पंडित हाम्बोलामा जीवित कलाकारों से कुछ कुछ करवाते रहते थे जिससे परंपरा की शिल्प-कृतियां सुरक्षित रहें। शिबिर में अनेक मन्दिर थे जो साम्यवाद की विकरालताओं में ध्वस्त कर दिए गए। इनकी निधियां जब कभी उपलब्ध होती हैं तो इवोल्गा विहार में आ जाती हैं। त्सुगोल विहार से प्राप्त नव-रत्न-लिखित हस्तलिपि देखी। सहस्त्रों हस्तलिपियां देखते-देखते अपराह्न हो गया। ये पुस्तकें अच्छा विश्राम कर रही हैं। बाहर निकले तो देखा कि द्वार के ऊपर ॐ चांदी में अंकित है।

पंडित हाम्बोलामा के साथ भोजन किया। बुर्यात गणराज्य की ओर से श्री ओछिरजाप् उपस्थित थे। श्री ओछिर बोले - "मन्दिर पंडित हाम्बोलामा का शाश्वत स्मारक है। आप 79 वर्ष के हैं। 75वीं वर्षगांठ पर सोवियत शासन ने आपको शान्ति के संवर्धन हेतु अलंकृत किया है।" ओछिर संस्कृत के 'वज्र' शब्द का अपभ्रंश है। बुर्यात भाषा में रत्न 'एर्देनि' बन गया, आदित्यवार 'आदिया' हो गया, महाकाल 'महागाला' हो गया। ओछिरजाप् हंसते हुए बोले - 'हम आपके समान शुद्ध नहीं। मांस खाते हैं और शुद्ध शब्द अशुद्ध हो जाते हैं। जितना मांस एक रूसी सात दिन में खाता है उतना बुर्यात-वासी एक दिन में खा जाता है।' यह कहते ही ठहाका मारकर हंसने लगे। फिर से बोले - "ग्रीष्मकाल में बुर्यात लोग छुरी अन्दर रख देते हैं और केवल दूध के पदार्थ खाते हैं। वे 'श्वेत भोजन' करते हैं। पशुओं से कहते हैं - शरत्काल तक अच्छे हृष्टपुष्ट हो जाओ। मैंने कहा - "ओछिरजाप् जो मैं खाता हूं, आप वह नहीं खा सकते।" ओछिर बोले - "ऐसा कैसे हो सकता है।" मैंने फिर से कहा - "मेरा भोजन दुर्लभ पांडुलिपियां हैं। क्या आप मेरा भोजन देंगे।" भारत से संस्कृत के ग्रन्थ बुर्यात जातियों के पास आए थे। जो शताब्दियों तक संरक्षित रखे गए।

मध्याह्न को इवोल्गा विहार के नए भवन में स्वागत समारोह आयोजित किया गया। इसमें 700 व्यक्ति बैठकर उपदेश सुन सकते हैं। प्रवेश करते ही भगवान बुद्ध और उनके दो पट्टशिष्य शारिपुत्र और मौदगल्यायन की प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। पार्श्व में भविष्य के तथागत मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की मूर्तियां विराजमान थीं। जब मैत्रेय बुद्ध का तुषित स्वर्ग से अवतरण होगा तब धर्म का पुनरुत्थान होगा - सोवियत सत्ता के स्थान पर संस्कार का नवजागरण होगा। बुर्यात बौद्धों के लिए मैत्रेय आशा के ज्योतिस्तम्भ थे और आज वह सत्य हो चुका है। बुर्यात में चारों ओर मन्दिरों का निर्माण हो रहा है। हाम्बोलामा अपनी परम्परा में 19वें संघराज थे। डमरू और वज्रघण्टा बजाते हुए हाम्बोलामा ने उपासना आरम्भ की। सामने सहस्त्र बुद्धों की 1000 प्रतिमाएं विराजमान थीं। छत से पच्चीस कुलिक-राजाओं के थंका-चित्र लटक रहे थे। ये कुलिक-राजा कालचक्र-तन्त्र की परम्परा से हैं जो कालान्तर में म्लेच्छों का संहार करके धर्म की स्थापना करेंगे। 10वीं शती में जब मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का संहार हो रहा था और इस्लाम की स्थापना होती जा रही थी, तब सीता-नदी (आधुनिक नाम - सीर दरिया) पर इस तन्त्र की रचना हुई और भविष्यवाणी की गई कि एक दिन रुद्रचक्रिन् नामक कुलिक-राजा अधर्म का नाश करेंगे। 'कुलिक' शब्द कल्की के रूप में दशावतार का दशम अवतार है। जयदेव की वाणी में -

म्हेच्छ-निवह-निधने कलयसि करवालं,
धूमकेतुमिव किमपि करालम।
केशव धृत-कल्कि-शरीर, जय जगदीश हरे॥

विहार के उपदेश-भवन में मैत्रेय, सहस्त्रबुद्धों की सहस्त्रगुणित शक्ति, और कुलिक-राजाओं के पटचित्र, सब इस आशा के द्योतक थे कि एक दिन पूर्ण वैभव से उदय होगा। चारों ओर पर्वतों से घिरा था, बाहर उग्र शीत वायु बह रही थी और अन्दर उपासना की निष्ठा मन में अलौकिक भावों का अभ्युदय था। महाबोधि-स्तूप और धान्यकटक-

स्तूप परिसर को बोधि-प्राप्ति और अधर्म-संहार का क्षेत्र बना रहे थे। उपासना की समाप्ति पर ऊपर पुस्तकालय में अनेक ग्रन्थ देखे। चुगोल् विहार से आई हुई भद्रकल्पिक-सूत्र की हस्तलिपि नवरत्नों को पीसकर लिखी हुई थी। नौ पंक्तियां क्रमश: नीलमणि, सुवर्ण, चांदी, नीला पत्थर मुमिन्, प्रवाल, मोती, ताम्बा, लोहा, शंख का पिसा रंग बनाकर लिखी थीं। पुस्तकालय में हस्तलिपियों की भरमार थी और मध्य में भगवान हेवज्र हेरूक का पुर मण्डल था। यह 1972 में बनाया गया था जबकि इस परम्परा के अन्तिम शिल्पी जीवित थे। साथ में मन्दिर का पुराना भवन था जिस में कंजूर के 104 भाग और तंजूर के 226 भाग सुरक्षित थे। कंजूर में बुद्ध-वचन और तंजूर में उनपर टीकाएं हैं। तंजूर में मध्यमक दर्शन, अनेक संस्कृत व्याकरणों के तिब्बती अनुवाद (आज कई के संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं), रसायन-शास्त्र, छन्द:शास्त्र, शिल्प आदि अनेक विद्याओं के शास्त्र हैं। पुराने मन्दिर की निधियां धीरे-धीरे नए में स्थानान्तरित हो जाएंगी। नया मन्दिर भक्तजनों ने आठ मास में श्रमदान से बनाया। रक्त और सुवर्णिम छतों और स्तम्भों से इसकी दिव्य छटा को चित्रित करने के लिए चेक किनो की चित्रणमण्डली आई हुई थी। अवलोकितेश्वर की प्रतिमा के एक हाथ में बड़ी आंख (अक्षिगोल) थी। पंडित हाम्बोलामा की एक आंख ही रह गई थी और बुर्यात के श्रद्धालुजनों ने उनकी धर्मसेवाओं के उपलक्ष में यह मन्दिर और उसमें एकनेत्र अवलोकितेश्वर की प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की थी। साम्यवाद की विभीषिका होने पर भी यह श्रद्धाजन्य साहस था। उन वर्षों में (1972-1990) धर्म का प्रचार अथवा उसके छोटे से छोटे प्रकटीकरण का अर्थ मृत्युदण्ड था। साम्यवाद के युग में शताब्दियों पुराने विहार और उनके विराट् पुस्तकालय जलाकर नष्ट कर दिए गए थे। यह दसवीं शताब्दी का बीसवीं में पुनरागमन था। एगेथु विहार बहुत बड़ा था जहां कई सौ भिक्षु साधना करते थे और नालन्दा के पाठ्यक्रम का अनुसरण करते थे। पर 1972 में इसका कोई अवशेष नहीं था। आगिंस्की छोटा विहार था, परन्तु योरोपीय और रूसी विद्वानों ने यहां भारतीय दर्शन का अध्ययन कर, इसे बुर्यात में विख्याततम बना दिया था। रूसी दार्शनिक श्चेर्बात्स्की ने भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास इसी आगिंस्की विहार में लिखा था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' नामक पुस्तक में उल्लेख किया है कि किस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं ने साम्यवादियों को समझाने का प्रयास किया कि वे साम्यवाद के निकट हैं और उन्हें जीने दिया जाए। ये विवाद भी आगिंस्की विहार में हुए थे।

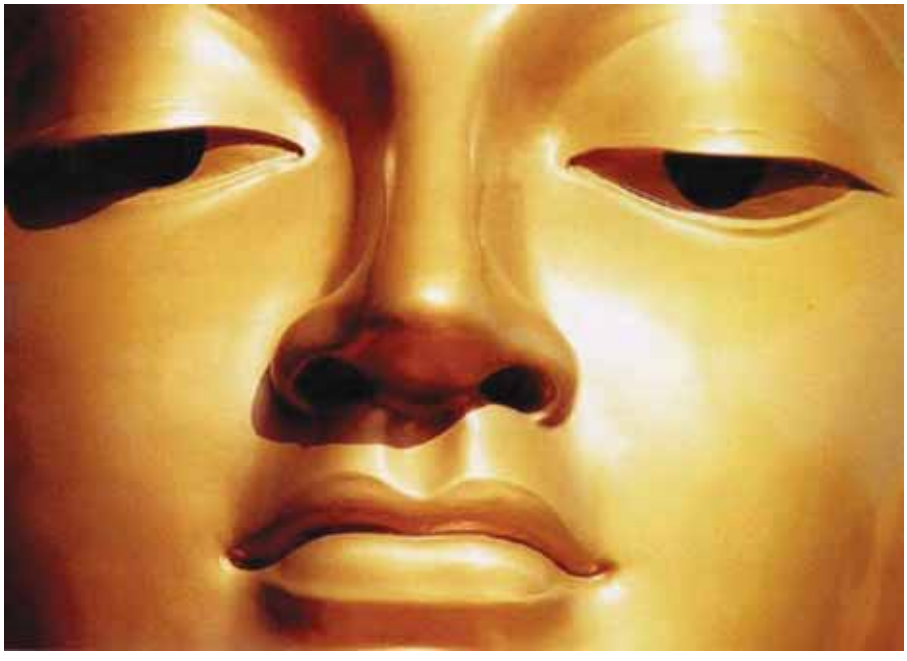

विज्ञान-विहार (Academy of Sciences), उलानुदे में श्चेर्बात्स्की के दो जीवित शिष्यों को मिलने का सौभाग्य हुआ। मेरे पिताश्री आचार्य रघुवीर श्री श्चेर्बात्स्की के मित्र थे और स्टालिन युग में भी कभी कोई पत्र आ जाता था। डॉ. श्रीमती गेरासिमोवा बौद्ध कला और शिल्पशास्त्रों के संबन्ध पर कार्य कर रही थीं। प्रो. सेमिचोफ अभिधर्मकोश के तिब्बती अनुवाद पर अनुसंधान-रत थे। इनके शिष्य बौद्ध दर्शन और भाषा-विज्ञान का अनुसंधान करने में लगे थे। बौद्ध दर्शन का अध्ययन संकटग्रस्त होने के कारण नई पीढ़ी के लिए चुनौती थी। भाषा-विज्ञान, ब्रह्माण्ड-विज्ञान आदि के बहाने से ही इनको पढ़ते थे, लिखते कम अथवा नहीं थे।

पण्डित हाम्बोलामा के संबन्धी डॉ. बाजारोन् आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के विशेषज्ञ थे। उनकी आयुर्वेद में गहरी रुचि थी। अष्टांगहृदय का मोंगोल में अनुवाद किया गया था। इसके अस्सी के लगभग बड़े-बड़े चित्रों में शरीर का अस्थि-विन्यास, शल्य उपकरण, जड़ी-बूटियों

के रंगीन चित्रों का संग्रह था। अष्टांगहृदय के समस्त विषयों को इनके द्वारा विद्यार्थी हृदयंगम कर सकते थे। लगभग चार सौ वर्ष पुरानी ये सारणियां भारतीय आयुर्वेद के लिए ऐतिहासिक और व्यावहारिक महत्त्व की हैं। तिब्बती और मोंगोल भाषाओं में सहस्रों हस्तलिपियां सुरक्षित हैं। हाम्बोलामा ने मुझे मंजुश्रीनाम-संगीति की संस्कृत और तिब्बती भाषाओं की काष्ठलिपि दी।

30 अगस्त को विश्वविख्यात आगिंस्की विहार में गए। यहां यमान्तक का पुर-मण्डल था। मण्डल चित्ररूप में न होकर प्रासाद के रूप में था। अनेक थंका और मूर्तियां थीं। मैत्रेय के उत्सव के लिए सब साज-सज्जा रखी हुई थी। उत्सव-मूर्ति, रथ और उसके लिए दो हरे रंग के घोड़े और अनेक मैत्रेय-पूजा-विधियां थीं। भगवान बुद्ध को चतुर्थमास की 15वीं तिथि को संबोधि प्राप्त हुई थी। 49 दिन तक भगवान् ने धर्मदेशना नहीं की। छठे मास की चौथी तिथि को धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। हाम्बोलामा बोले – "हमें आशा है कि आप आगामी मैत्रेय उत्सव में आएंगे।" मैत्रेय दोनों पैर लटका कर भद्रासन में बैठे हैं – अर्थात् वे उठने वाले ही हैं, शीघ्र ही आएंगे और पुन: धर्मदुन्दुभि का निनाद होगा। मैत्रेय के दोनों ओर गगनविमल और मंजुश्रीगर्भ बोधिसत्त्व विराजमान थे। गगनविमल ने अतीश दीपंकरश्रीज्ञान के रूप में अवतार लिया और मंजुश्रीगर्भ ने चोंखापा के रूप में। दोनों ने तिब्बत और मोंगोल देशों में तथागत के धर्म का उपदेश प्रसारित किया। हाम्बोलामा बोले – "हमें आशा है कि आप पुस्तक लिखेंगे, उससे मैत्रेय का आगम और धर्म-वर्धन होगा और एक दिन बुर्यात में फिर से धर्मोदय होगा। आपके प्रयासों से धर्म और लोक का कल्याण होगा।"

सायं 6.30 बजे उलानुदे से चले। हाम्बोलामा ने मंगलवस्त्र से आशीर्वाद दिया और प्रो. पूबायेफ़ बोले "सर्व-मंगलम्"।

विमानक्षेत्र पर श्री बाल्दोर्जे बादारायेफ़ आए हुए थे। इनके नाम का अर्थ है – श्रीवज्र भद्र-पुत्र। बादारा संस्कृत भद्र का उच्चारण है। इनके पिता का नाम भद्र था। इन्होंने कहा – "मोंगोल पढ़ने के लिए मनुष्य का मन चाहिए, तिब्बती के लिए बोधिसत्व का हृदय और संस्कृत के लिए बुद्ध का हृदय। प्रत्येक व्यक्ति नहीं पढ़ सकता। मैं एक दिन आपसे संस्कृत पढ़ूंगा।" श्री बादारायेफ़ ने बौद्ध साहित्य के इतिहास पर मौलिक कार्य किया है। उलानुदे के इतिहास-संग्रहालय की निधियों का उल्लेख करते हुए बताया कि इसके भंडार में 'चन्दन जोवो' नामक प्रतिमा है। जब बुद्ध भगवान् अपनी माता मायादेवी को उपदेश देने के लिए त्रयस्त्रिंश देवलोक गए, तब कोसल के राजा प्रसेनजित् और वत्सराज्य के राजा उदयन भगवान् की अनुपस्थिति में उद्विग्न हो गए। उनकी सांत्वना के लिए विश्वकर्मा ने वत्सराज के लिए गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बनाई। यह सुनकर राजा प्रसेनजित् ने सुवर्ण-मूर्ति बनवाई। यह आख्यान एकोत्तरागम में आया है। इनमें से चन्दनमूर्ति चीन पहुंची। 1900 में चीन की बॉक्सर क्रान्ति के समय यह चांदी देकर मोल ली गई और बुर्यात के एगेथु विहार में इसकी उपासना होने लगी। साम्यवादी क्रान्ति में विहार नष्ट किए जाने पर प्रतिमा इतिहास-संग्रहालय के भण्डार में रख दी गई।

श्री बादारायेफ़ ने बताया कि ऊंचे पर्वतों और निर्जन स्थानों में लकड़ी से बने घर हैं जिनमें थंका, प्रतिमाएं और ग्रन्थ अज्ञातवास में हैं। साम्यवादी युग में बौद्ध ग्रन्थ आदि वर्जित थे और उनको रखने का अर्थ प्राणदण्ड था। बादारायेफ एक छोटे से गांव में गए जहां 40-50 परिवार ही रहते थे। एक बूढ़ा सज्जन उन्हें पशुशाला में ले गया – प्रतिमाएं, पटचित्र, ग्रन्थ और कंजूर के सौ भाग थे। जब लेना चाहा, तो

मैत्रेय के दोनों ओर गगनविमल और मंजुश्रीगर्भ बोधिसत्त्व विराजमान थे। गगनविमल ने अतीश दीपंकरश्रीज्ञान के रूप में अवतार लिया और मंजुश्रीगर्भ ने चोंखापा के रूप में। दोनों ने तिब्बत और मोंगोल देशों में तथागत के धर्म का उपदेश प्रसारित किया।

वृद्ध ने न कर दी। नदी के आगे चलते गए। छोटे से घर में योगी ध्यानमग्न था। पुस्तकों से भरा मन्दिर था। उसने कई पुस्तकें दे दीं, परन्तु बहुत अधिक छूट गईं। बादारायेफ मोटरकार मोल लेंगे और शेष भी ले जाएंगे। बोले – "काल निष्करुण है। लोग भी। मेरे पिता वैद्य थे। तिब्बती और मोंगोल ग्रन्थ पढ़ते थे। दूसरे विश्वयुद्ध में मर गए। बचपन में मैं दीपक स्वच्छ किया करता था – इतना घिसता कि वे नए लगते। आलस्य करने पर मार पड़ती थी। दीपक चमकाते-चमकाते मैं श्रम करना सीख गया और आज उससे मेरे मन का दीपक आलोकित है। मेरी विद्या उस आलोक से उजागर है।"

31 अगस्त को लेनिन्नगरी पहुंचे। एर्मिताज संग्रहालय में श्री गेन्नादि ने बताया कि वे तिब्बती कला पर लिख रहे हैं। एर्मिताज में थंकाओं का अद्वितीय संग्रह है। खाराखोतो से 13वीं शती के थंका, मंचु सम्राटों के बुने हुए और अनुपम कलाकारों द्वारा बनाए थंका, चीन के विशाल पट, तिब्बत से बुर्यात तीर्थयात्रियों द्वारा संकलित थंका देखे।

श्री गेन्नादि बोले – ''मैं आपके साथ कलाकृतियों को देखना चाहता हूं और उनकी विभिन्न शैलियों को समझना चाहता हूं।'' मैंने कहा – ''आप मेरे साथ प्रतिमाओं की नेत्र-भंगिमाओं को योग की दृष्टि से तथा विभिन्न कालों और प्रदेशों की शैलियों की दृष्टि से देखिए।'' डेढ़ घण्टा एक-एक प्रतिमा और पट-चित्र की नेत्रांकन की विशेषताएं

काल निष्करुण है। लोग भी। मेरे पिता वैद्य थे। तिब्बती और मोंगोल ग्रन्थ पढ़ते थे। दूसरे विश्वयुद्ध में मर गए। बचपन में मैं दीपक स्वच्छ किया करता था – इतना घिसता कि वे नए लगते। आलस्य करने पर मार पड़ती थी। दीपक चमकाते-चमकाते मैं श्रम करना सीख गया और आज उससे मेरे मन का दीपक आलोकित है। मेरी विद्या उस आलोक से उजागर है।

समझाईं। बौद्ध शिल्पशास्त्रों के अनुसार सम्पूर्ण चित्र बन जाने पर पूर्णिमा के दिन आंखें बनाई जाती थीं। पूर्णिमा के चांद की भांति पूर्णत: विशालाक्ष प्रतिमा अन्तर्ज्योति की प्रतीक होती है।

लेनिन्नगरी के विश्वविद्यालय में तिब्बती ग्रन्थ देखे जिन्हें प्रो. वासिल्येफ ने चीन के 27 वर्ष के आवास में एकत्र किया था। इनमें महाव्युत्पत्ति नामक संस्कृत और तिब्बती का कोश शुद्ध पाठों के कारण महत्वपूर्ण था। प्रो. कुज्नेत्सोफ़ ने प्राचीन तिब्बती मानचित्र का अध्ययन किया था जिसमें ईरान की दूसरी शताब्दी ईसापूर्व की राजनैतिक स्थिति प्रतिबिम्बित थी। संभवत: यह संसार का प्राचीनतम मानचित्र है। ये प्राध्यापक आयुर्वेद का अनुसंधान भी कर रहे थे। श्री पाद्मायेफ़ इनके सहयोगी थे। ये आयुर्वेद से असाध्य रोगों की चिकित्सा के लिए सोवियत संघ में विख्यात थे। इनके पितामह स्टालिन की चिकित्सा कर चुके थे।

लेनिन्नगरी के धर्मोतिहास एवं नास्तिकता संग्रहालय में बौद्ध संग्रह देखने गए। यहां चीन से प्राप्त विराट पटचित्र पूरी भित्ति को घेरे था – शाक्यमुनि पांच सौ अर्हतों से परिवृत थे। रेखाओं की सूक्ष्मता, रंगों की पारदर्शिता और साधना के हाथों से अभिभावित यह पट किसी चीनी सम्राट के पूजा-भवन से होगा। 19वीं शती के अन्त में बुर्यात से आयी पावन हाथी की जीवन-परिमाण की प्रतिकृति थी। उत्सव में इस पर मैत्रेय की प्रतिमा को सजाकर भिक्षु एवं भक्त रस्सियां बांध कर खींचते थे। जगन्नाथ-पुरी की रथयात्रा के समान विराट् पर्व होता था जिसमें दूर-दूर से भक्तजन इकट्ठे होते थे। यह भविष्य के तथागत मैत्रेय के शीघ्र अवतरण की कामना थी। संग्रहालय के एक ओर सुखावती स्वर्गलोक की प्रतिकृति थी। सुखावती-व्यूह नामक संस्कृत ग्रन्थ में वर्णित सुखावती का यह दृश्य रूप था। संग्रहालय में 84 सिद्धों के 84 पट थे। झुरमुट रंगों में रेखित इन पटों में सिद्धों की साधनाओं की दिव्यता परिलक्षित थी।

विश्वविद्यालय में संस्कृत, तमिल, हिन्दी, मराठी, मलयालम आदि अनेक भाषाओं के विद्वानों से मिलना हुआ। प्रो. दाम्दिन्सुरेन् मोंगोल भाषा में लिखी रामायण का संस्करण और अनुवाद बना रहे थे। विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर रामायण की चार कृतियां मिली हैं। ये चार भागों में रूसी व्याख्या के साथ छापेंगे।

लेनिन्नगरी में जार का राजप्रासाद (Petershof) रूसी गौरव का प्रतीक है। गौरव का उल्लेख करते हुए दुभाषिया ने सुनाया कि रूस का कितना विशाल साम्राज्य था। सम्राज्ञी कैथरीन ने रूस के पूर्वतम नगर काम्चत्का से दस कन्याओं को राजधानी देखने के लिए बुलाया। काम्चत्का पूर्वतम भाग और लेनिन्नगरी पश्चिमतम भाग है। इन्हें लेने के लिए सीमान्त-सेनापति को दायित्व सौंपा। जब वे इर्कुत्स्क पहुंची तब सन्तानवती थीं। जब तक लेनिन्नगरी पहुंची, प्रत्येक का एक और भाई अथवा बहिन भी था। यह रूस के विराट् विस्तार का द्योतक था। लेनिन्नगरी से काम्चत्का पहुंचने में 18 मास से अधिक लगते थे। इतिहास का मधु-संचय राष्ट्र के मन को नई ऊर्मियों से अनुप्राणित करता देख, सोचने लगा – इतिहास का वज्रस्वर जीवन का नवोत्कर्ष है।

प्रो. (डॉ.) लोकेश चन्द्र
पूर्व सांसद
जे 22 हौज़ खास एंक्लेव
नई दिल्ली-110016
lokesh.chandra@yahoo.com.

डा० (श्रीमती) अंशुमाला

कम्बोडिया के प्राचीन अभिलेखों में धार्मिक दान का पारम्परिक एवं वैधानिक स्वरूप

कम्बोडिया का समस्त धार्मिक तंत्र मूलत: दान के सहारे ही टिका था और साम्राज्य के कोने-कोने में स्थापित धार्मिक केन्द्रों का संचालन इसी की सहायता से किया जाता था। यदि कम्बोडियाई समाज के अधिकांश लोग इतनी उदारता से दान नहीं देते तो धार्मिक संस्थाओं का अपेक्षित विकास नहीं हो पाता।

सामान्यत: दान देने की प्रवृत्ति न केवल राजाओं और सामन्त शासकों में रही है, बल्कि इसमें समाज के वे लोग भी सम्मिलित थे जो आर्थिक रूप से कुछ न कुछ देने की स्थिति में होते थे। साधु संन्यासियों का समुदाय भी दान देकर धार्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता था। दान देने की विधियाँ कई रूपों में प्रचलित थीं। कुछ देव मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना के लिए दान देते थे, तो कुछ धर्म के प्रधान पीठ के रूप में स्थापित आश्रमों के समुचित संचालन के लिए भूमि एवं अन्य द्रव्यों का दान देते थे। दान के रूप में दी गई चल-अचल संपत्ति का विस्तृत ब्यौरा अभिलेखों में दिया गया है। धार्मिक संस्थाओं को दान में दी गई चल-अचल संपत्ति की सुरक्षा का दायित्व राज्य प्रशासन और धर्मनिष्ठ नागरिकों को संयुक्त रूप से सौंपा गया था। दान में दी गई चल-अचल संपत्ति का हस्तांतरण किसी भी परिस्थिति में मान्य नहीं था। इससे संबंधित राज्यादेश समय-समय पर जारी किए जाते थे। देवस्थान को दान में दी गई संपत्ति का हस्तांतरण किसी भी न्यायिक प्रक्रिया द्वारा नहीं करने का आदेश भी जारी किया गया था।

दान देने की विधियाँ कई रूपों में प्रचलित थीं। कुछ देव मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना के लिए दान देते थे, तो कुछ धर्म के प्रधान पीठ के रूप में स्थापित आश्रमों के समुचित संचालन के लिए भूमि एवं अन्य द्रव्यों का दान देते थे। दान के रूप में दी गई चल-अचल संपत्ति का विस्तृत ब्यौरा अभिलेखों में दिया गया है।

भारत के समान कम्बोडिया में भी अनेक धार्मिक उद्देश्यों के लिए दान देने का प्रचलन था। वर्गीकृत रूप में दान की प्रचलित परम्पराओं और उनसे उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों का इतिवृत इस प्रकार है :-

कम्बोडिया के शैव मतावलम्बी प्रधानत: लिंग पूजक थे। देवी प्रतिमा के साथ-साथ लिंग की स्थापना का आम प्रचलन होने से लोग गाय, भैंस, दास, दासी, रत्न, स्वर्ण, चाँदी तथा खेती योग्य भूमि के अतिरिक्त पुष्पवाटिका का निर्माण कराकर दान देते थे। इससे लोग अपने ऐहिक सुख और बंधु-बांधवों के कल्याण की कामना करते थे। कई अर्थों में यह दान अक्षत पुण्य का द्योतक होता था।

शिव कल्याणकर्ता देव थे, इसलिए कम्बोडियाई धार्मिक परम्पराओं में उन्हें भ्रादेश्वर कहा जाता था और इसी नाम से शिवलिंग की स्थापना कराकर तरह-तरह का दान दिया जाता था। राजा राजेन्द्र वर्मन के राज्यकाल में शैव मत को व्यापक जनसमर्थन मिलने से देश के कोने-कोने में अनेक प्रकार के शैव स्मारकों एवं देवालयों का निर्माण कराया गया था। राजा ने व्यक्तिगत रुचि लेकर शैवपुर में सिद्धेश्वर शिवलिंग की स्थापना कराई थी और यशोधर तड़ाग के क्षेत्र को शिव साधना के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में विकसित करने की एक दीर्घकालिक योजना का भी सूत्रपात किया था। जगत के अधिष्ठाता शिव के दिव्य रूप से अभिभूत राजा ने सोने के शिवलिंग का निर्माण कराकर विचित्र शोभा से युक्त एक प्रासाद के भीतर स्थापित कराया था। अन्य अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि यशोधर पुरी जो चिरकाल तक मानवीय आवास से शून्य थी वहाँ सोने जैसे चमकदार अनेक गृहों का निर्माण कराया गया था। कालान्तर में यह श्रेष्ठ नगर के रूप में विकसित हुआ, जिसकी तुलना इन्द्र के भवनों से की जाती थी और प्रतिक्षण दूसरी अयोध्या होने का आभास देता था। यशोधर तड़ाग के बीचों-बीच मेरु पर्वत के सदृश शिखरों से युक्त एक भव्य प्रासाद का निर्माण कराकर उसमें देवी सहित शिवलिंग की स्थापना कराई गई थी।

राजघराने के साथ जिनके वैवाहिक संबंध थे, वे भी देवालयों की स्थापना कराते थे। राजेन्द्र वर्मन के जामाता दिवाकर भट्ट ने मधुवन में तीन देव स्मारकों का निर्माण कराया था। रत्न और चमकीले वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में चांदी और तांबे के बर्तन भी दान में दिए गए थे। गाय, भैंस, दास-दासी, हाथी-घोड़े का प्रशस्त दान देकर यहाँ पूजन की विहित परम्पराओं का शुभारम्भ किया गया था। भगवत मत के प्रचार-प्रसार के लिए द्विजेन्द्र विद्याश्रम की स्थापना भी कराई गई थी। ब्राह्मण राजगुरू और राज्य के कुछ चुनिंदा पदाधिकारियों को गाँव बसाने और उसमें यथा स्थान परिवारों को आवास के लिए भूमि सुलभ कराने का आदेश दिया गया था। ऐसी सूचना है कि इस गांव के बीचों-बीच शिविलिंग, भगवती की दो मूर्तियां, भद्रेश्वर, नारायण, चम्पेश्वर आदि देवों की स्थापना कराई गई थी। देवार्चन के लिए जो भूमि दान में दी गई थी उसकी स्पष्ट सीमा भी निश्चित की गई थी।

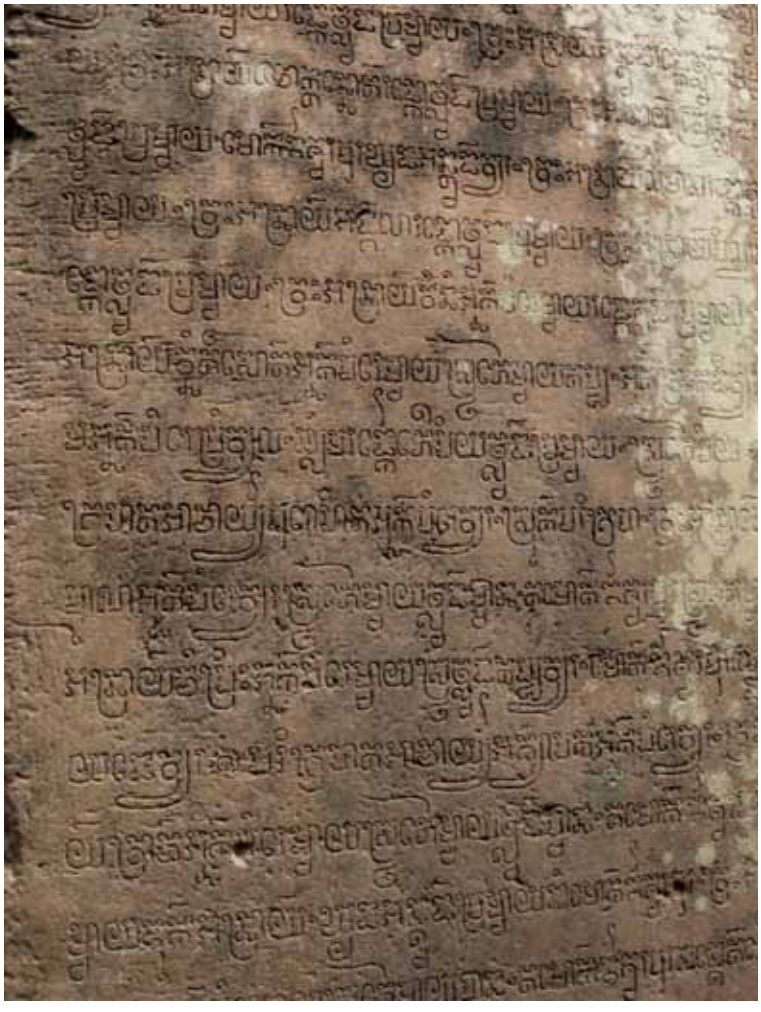

कम्बोडिया का एक प्रस्तर अभिलेख

कम्बोडियाई समाज का एक विशिष्ट वर्ग संयुक्त रूप से देव मूर्तियों की स्थापना कराकर उनकी पूजा एवं अन्य धार्मिक अनुष्ठान के लिए पर्याप्त मात्रा में दान देता था। धार्मिक अभिरुचि से सम्पन्न स्त्रियां भी देव मूर्तियों की स्थापना कराकर यथेष्ठ मात्रा में दान दिया करती थीं। एक अभिलेख से ऐसी सूचना मिलती है कि राजघराने से संबद्ध एक साध्वी स्त्री ने श्वेतपाद नामक देवता की परिचर्चा के लिए दासों के एक समूह का दान दिया था। वैष्णव मतावलम्बियों में विष्णु मंदिर की स्थापना के लिए होड़ मची हुई थी। एक अभिलेख से स्पष्ट होता है कि विष्णुवर नामक एक संभ्रांत नागरिक ने श्वेत पाद में निर्मित एक विष्णु मंदिर के लिए दान दिया था। मंदिर की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए अतिरिक्त भू-राजस्व का प्रबंध किया गया था। कालक्रम से इस मंदिर के संस्थापक ब्राह्मण को शासन की ओर से इस बात के लिए अधिकृत किया गया कि उसके भ्रातृकुल के उत्तराधिकारी ही चारों मंदिरों के अधिष्ठाता हुआ करेंगे। इस समूह के एक दूसरे अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि कवीन्द्र पंडित ने विष्णु मंदिर के लिए एक भूखण्ड का दान दिया था। उसका पुत्र कवीन्द्र विजय इस मंदिर की चल-अचल संपत्ति का संरक्षक घोषित किया गया था। जिस भूखण्ड का कोई दावेदार नहीं होता वहाँ प्रशासन की अनुमति लेकर मंदिर बनाया जा सकता था। संरक्षक जो राजदरबार के अति महत्वपूर्ण व्यक्ति माने गए थे इस भूमि का दान देते समय साक्षी की हैसियत से उपस्थित रहा करते थे। राज्यादेश से मंदिर के निर्माण के लिए दी जाने वाली बेनामी जमीन की सीमा निश्चित कराते समय पड़ोसी गांव के वयोवृद्ध एवं सभ्रांत नागरिकों को बुलाया जाता था। विष्णु मंदिर की पूजा अर्चना और प्रशासकीय प्रबंधन अधिकार सामान्यत: वंशानुगत आधार पर दिया जा सकता था। यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि मंदिर के उत्तरी दिशा में स्थित जमीन को नारायण की पूजा के लिए दान में दिया गया था। जबकि दक्षिण भाग वाली जमीन को शिवालय के लिए आरक्षित किया गया था। भूमि के कुछ हिस्से को नंदिकायार्थ भी आरक्षित घोषित किया गया था, जो दोनों देवालयों को दान में दी गई भूमि के निरीक्षण के लिए प्रशासन द्वारा अधिकृत किए गए थे।

राजा सूर्यवर्मन के राज्यकाल में बौद्ध स्मारकों को अनेक तरह का दान दिया गया था। त्रैलोक्यनाथ जो बौद्ध देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे, की पूजा अर्चना के लिए राज्य सचिव ने संज्ञकों को साक्षी बनाकर भूमि दान दिया था।

कम्बोडियाई धार्मिक समुदाय के कुछ लोग ऐसे भी थे जो जमीन को खरीद या विनिमय के द्वारा विभिन्न देव मंदिरों एवं आचार्यों को दान में देने का कार्यक्रम चलाते थे। शक संवत 958 में लिखवाए गए एक अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि राज्य के सात अधिकारियों ने गणयादिवर्मन नामक एक आचार्य को सात अलग-अलग भूखंड का दान देने का संकल्प लिया था। जब राजा को इससे अवगत कराया गया तो उसने राजस्व की आधी मात्रा का आदेश दिया। देवालयों में ब्राह्मण पुजारी की पीढ़ी-दर-पीढ़ी द्वारा देवार्चन कार्य के लिए तथा मंदिरों के जीर्णोद्वार के लिए समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं का दान दिया जाता था। अभिलेख संख्या-152 के संस्कृत भाग से यह स्पष्ट होता है कि शिवदेवज्ञ ने भवालय नामक एक गांव की स्थापना उस समय करवाई थी जब उनके पैतृक गाँव को डाकुओं ने न केवल उजाड़ा बल्कि वहां के मंदिरों और स्थापित शिवलिंग को भी ध्वस्त कर दिया था। राजा उदयादित्य वर्मन ने यह गांव बतौर दान में दिया था।

अंकोरवाट मुख्य मंदिर की प्रतिमा का एक आलेख

कम्बोडियाई समाज के धार्मिक अभिरुचि संपन्न परिवारों में कई प्रकार के धार्मिक स्मारकों का निर्माण कराने का आम रिवाज था। अभिलेखों से सप्तदेव कुल का पता चलता है जिसके प्रथम सदस्य रूद्रवर्मन और उसकी पत्नी नरेन्द्र लक्ष्मी ने अपने धार्मिक उत्थान के लिए एक देव स्मारक का निर्माण कराया था। इस परिवार का अंतिम सदस्य शंकर या यति के नाम से विख्यात हुआ।

निष्कर्ष रूप में यह कहना समीचीन है कि कम्बोडिया के प्रसिद्ध देव मंदिरों में देश का प्रभूत धन संचित होने से धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। सभी धर्मों में आपसी मेलजोल होने से कम्बोडियाई समाज का बहुसंख्यक वर्ग अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान देता था। कतिपय समृद्ध लोग देवमंदिरों के अलंकरण के लिए विभिन्न रत्नों और चाँदी का ढेर जमा करते थे और अवसर आने पर किसी ब्राह्मण आचार्य के माध्यम से इसे मंदिर के दान में अर्पित कर देते थे।

कम्बोडिया के राजा अपने दीक्षा गुरु के धार्मिक कार्य के लिए तरह-तरह का दान देते थे। अभिलेखों से इस आशय की सूचना मिलती है कि अपने शिष्य को शैव दीक्षा विधि से दीक्षित करने वाले आचार्य दामोदर पंडित को उनके धर्म संबंधी कार्यों के लिए राज्य की ओर से प्रचुर मात्रा में धन दिया गया था। गुरु के लिए स्वर्ण जड़ित वस्तुएं, दुधारू गाएं और हवन की सामग्रियाँ प्रत्येक मास में अर्जित की जाती थीं। कपिल, कणाद, पातंजल, अक्षपाद और बौद्धदर्शन के ज्ञाता गुरु के सम्मान में राजा द्वारा विधिपूर्वक शिवलिंग की स्थापना कराई गईं थी, इस शिवलिंग के भिक्षु भोग के लिए प्रतिवर्ष अन्न, फल-फूल और पुष्प की आपूर्ति हेतु एक निश्चित राशि दी जाती थी। कम्बुज के अधिपति राजा जयबर्मन ने अपने गुरु के प्रति निष्ठा जताते हुए शासन द्वारा स्थायी रूप से दान देने का क्रम चलाया था।

अभिलेखों से यह रोचक सूचना मिलती है कि संसार त्यागी साधु संन्यासियों का समुदाय भी धर्म को निरंतर लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अनेक धार्मिक स्मारकों एवं देवालयों का निर्माण कराता था। कम्बोडियाई धार्मिक संसार की यह विशेषता थी कि संसार त्यागी साधु समुदाय निस्पृह भाव से धर्म एवं मानवता की सेवा में लगा हुआ था। एक संन्यासी जिसने अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष राजकीय सेवा में बिताए थे, कल्याण आश्रम का अधिकारी बनने के पश्चात् सूर्य पर्वत पर स्थापित एक देवता के लिए भूमि, दास-दासी, चाँदी के पात्र एवं अन्य पूजनोपयोगी सामग्री का दान दिया था। दिवाकर पंडित जिसे धार्मिक जगत का अति विशिष्ट मुनि माना गया था, ने उनके यज्ञों को संपन्न कराने के पश्चात् तालाब खुदवाया और धार्मिक स्मारकों को पूजन सामग्री का भरपूर दान दिया। राजाश्री इन्द्र वर्मन के राज्य काल में जाह्नवी का होता नियुक्त किया गया था जिसने यशोधर तालाब में गंगा की एक मूर्ति की स्थापना कराकर उसे स्वर्ण मुकुट से अलंकृत कराया था। एक दूसरे अभिलेख से जानकारी मिलती है कि विद्यावास नामक संन्यासी क्रमशः जय वर्मन द्वितीय, धारणी वर्मन प्रथम और सूर्य वर्मन द्वितीय जैसे राजाओं द्वारा समाहित था। इनमें अंतिम राजा के राज्यकाल में इस संन्यासी ने श्यामद्री पर्वत पर एक शिवलिंग की स्थापना कराई थी।

डॉ. (श्रीमती) अंशुमाला
153-एम.आई.जी., लोहियानगर
कंकड़बाग, पटना-800020

रॉस द्वीप का रोमांच

डॉ. अमगर वजाहत

बंगाल की खाड़ी में तीन सौ से अधिक द्वीपों का समूह अण्डमान निकोबार विश्व में कई कारणों से जाना जाता है। अपने अलौकिक सौन्दर्य, प्राचीन जनजातियों के निवास स्थान, भारत के एकमात्र सक्रिय ज्वालामुखी और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतिरोध का प्रतीक बनी सेलुलर जेल ही पर्यटकों को आकर्षित नहीं करते बल्कि वहां की प्राकृतिक छटा भी मन मोह लेती है, ऐसा लगता है जैसे प्रकृति ने यहां अपना अधिकार जमा लिया हो।

पिछली आधी शताब्दी से खाली पड़े इस द्वीप पर प्रकृति ने अपना कब्जा जमा लिया है। सैकड़ों साल पहले जो कुछ बनाया गया था आज प्रकृति की गिरफ्त में है। सड़कों के किनारे बनी विशाल कोठियों तथा कार्यालय की इमारतों को पेड़ों की जड़ों और अन्य वनस्पति ने इस तरह घेरा हुआ है, कि हर तरफ जड़ें ही जड़ें दिखाई पड़ती हैं।

पोर्टब्लेयर से कुछ दूरी पर स्थित रॉस आइलैण्ड संभवत: संसार के उन विरले स्थानों में से है जहां प्रकृति और मनुष्य के द्वंद्व ने अद्‌भुत छटा बिखेरी है। लगता है इमारतों, आबादी, नगर-व्यवस्था के साथ-साथ प्रकृति ने एक रोचक खेल खेला है। रॉस द्वीप में सब कुछ है जो किसी भी बस्ती या नगर में होता है, लेकिन इस सब कुछ पर प्रकृति ने अपनी छाप छोड़ी है।

अण्डमान में 1788-89 में अंग्रजों ने बस्ती बसाने के प्रयास किए थे लेकिन कठिन जलवायु के कारण यह प्रयास सफल नहीं हुआ। 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के बाद अंग्रेजी सरकार ने पुन: अण्डमान में एक बड़ी जेल बनाने की योजना बनाई ताकि स्वतंत्रता सेनानियों को देश से दूर एक अलग-थलग जगह पर रखा जा सके।

रॉस आइलैण्ड का नामकरण सर्वेक्षणकर्ता सर डैनियल रॉस के नाम पर किया गया था। इस द्वीप पर अपराधियों की बस्ती (पीनल सेटलमेंट) का मुख्यालय बनाने का काम शुरू किया गया। रॉस द्वीप पर

जड़ों की गिरफ्त में चर्च

स्वतंत्रता सेनानियों से ही मकान, सेना की बैरकें, कार्यालय , चर्च आदि बनाने का काम लिया जाता था। जेल के उच्चाधिकारियों के बंगले बनाने तथा सरकारी भवन बनाने के लिए इटली से टायल्स लाई गई थीं। 1872 में रॉस द्वीप पर मुख्य आयुक्त के पद पर सर डोनाल्ड मार्टिन स्टुवर्ट को नियुक्त किया गया था। उस समय रॉस द्वीप मुख्य प्रशासनिक केन्द्र था और यहाँ मुख्य आयुक्त के बंगले के अतिरिक्त

अस्पताल, चर्च, क्लब, दफ्तर, अधिकारियों तथा कर्मचारियों के रहने के लिए मकान, बाजार, सड़कें तथा अन्य आवश्यक इमारतें थीं।

1938 में रॉस द्वीप जापानियों के अधिकार में आ गया। इसी दौरान 1943 में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी यहां एक दिन के लिए आए थे और तिरंगा झण्डा फहराया था।

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद रॉस पुन: अंग्रेजों के अधिकार में आ गया लेकिन वास्तव में रॉस द्वीप के पिछले दिन वापस न आ सके। लगातार आने वाले भूकम्पों और इस धारणा ने कि रॉस द्वीप डूब रहा है, इसे उजाड़ दिया।

रॉस द्वीप

आज रॉस द्वीप एक विचित्र स्थिति में है। हरे-भरे, नीले साफ पानी में चमकते रॉस द्वीप को देखने से यह लगता कि इन विशाल पेड़ों के पीछे एक विचित्र संसार छिपा हुआ है, जो कहीं-कहीं भुतही फिल्म की याद दिलाता है, तो कहीं जीवन की नश्वरता पर टिप्पणी करता है। पिछली आधी शताब्दी से खाली पड़े इस द्वीप पर प्रकृति ने अपना कब्जा जमा लिया है। सैकड़ों साल पहले जो कुछ बनाया गया था आज प्रकृति की गिरफ्त में है। सड़कों के किनारे बनी विशाल कोठियों तथा कार्यालय की इमारतों को पेड़ों की जड़ों और अन्य वनस्पति ने इस तरह घेरा हुआ है, कि हर तरफ जड़ें ही जड़ें दिखाई पड़ती हैं।

इमारतों तक जाने वाली सीढ़ियों पर हरी काई और घास इस तरह जमा हो गई है जैसे हरा कालीन बिछा हो। खिड़कियों के अंदर से, छत के ऊपर से, दीवारों के बीच से पेड़ के तने और जड़ें लिपटी दिखाई पड़ती हैं। अस्पताल की इमारत और रॉस का छोटा-सा बाज़ार भी प्रकृति की जकड़ से बच नहीं पाया है।

रॉस द्वीप पर्यटकों को विशेष रूप से आकर्षित करता है। यहाँ प्रत्येक इमारत और प्रकृति के तालमेल से जन्मे अदभुत दृश्य देखे जा सकते हैं। चर्च की दीवारों पर फैली विशाल जड़ें एक अदभुत कलात्मक अभिव्यक्ति करती लगती हैं। अस्पताल के कमरों में और उनकी खिड़कियों पर जड़ों ने एक महीन जाली बुन दी है। कुछ दीवारों को तो जड़ों ने अपनी पकड़ में इस तरह ले लिया है कि अब वे दीवारें पेड़ों का अंश बन गई हैं। ऐसा लगता है कि जब तक पेड़ हैं तब तक दीवार खड़ी रहेंगी उसे कोई गिरा नहीं सकता। इस तरह प्रकृति ने मनुष्य द्वारा निर्मित इमारतों की उम्र बढ़ा दी है।

रॉस आइलैण्ड संभवत: संसार के उन विरले स्थानों में से है जहां प्रकृति और मनुष्य के द्वंद्व ने अद्भुत छटा बिखेरी है। लगता है इमारतों, आबादी, नगर-व्यवस्था के साथ-साथ प्रकृति ने एक रोचक खेल खेला है।

चर्च

सामरिक महत्व के कारण रॉस द्वीप 1979 में भारतीय जल सेना के सपुर्द कर दिया गया था। अब यहाँ एक कोने में जल सेना का कार्यालय है, लेकिन पूरा द्वीप तरह-तरह की मायावी कहानियां सुनाता है। प्रकृति अपनी सत्ता को स्थापित करती लोगों को अचम्भे में डाल देती है।

असग़र वजाहत
79 कला विहार, फेज़-I,
दिल्ली-110091

राजेन्द्र उपाध्याय

नटराज उदयशंकर के घुंघरुओं का जादू

महान् कलाकार उदयशंकर वास्तव में नटराज थे। उदयशंकर के बारे में कहा जाता है कि देवताओं ने उन्हें अपने रूप दिखाने के लिए इस धरती पर भेजा था। इसीलिए जिन-जिन लोगों ने उनकी नृत्य मुद्राएं देखी हैं - उन्हें उनकी दिव्यता का दर्शन तो होता ही था, यह भी लगता था जैसे साक्षात् इन्द्र, देव, गंधर्व, शिव धरती पर उतर आए हों।

जब भी किसी शहर में उनके प्रदर्शन के पोस्टर लगते थे तो पूरे शहर में जैसे एक हंगामा-सा हो जाता था कि उदयशंकर आ रहे हैं - चाहे वह दिल्ली हो, लखनऊ हो, मुंबई हो, कोलकाता हो या चेन्नई। यहां तक कि लंदन, पेरिस और न्यूयार्क में भी एक हलचल सी मच जाती थी। लोग उनके और उनकी मंडली का प्रदर्शन देखने को उत्सुक रहते थे। उनके शो हर जगह हाऊसफुल जाते थे।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य परंपराओं से ज्यादा किसी औपचारिक प्रशिक्षण और शिक्षा-दीक्षा के बगैर भी उदयशंकर ने जैसे इन शास्त्रीय नृत्य परंपराओं का पुनराविष्कार किया और शताब्दियों से दबी-ढंकी नृत्य पद्धतियों की पुनः पहचान की। रामायण, महाभारत जैसे मिथकों से प्रेरणा लेने के साथ-साथ उन्होंने जनजातीय नृत्य रूपों की पहचान की। डांस बैले और शैडो प्ले (छाया नाटक) भी उन्होंने रचे। मिथकों से प्रेरणा लेने वाले उदयशंकर आज स्वयं एक मिथक बन चुके हैं। अवतारों पर नृत्य करने वाले आज खुद एक अवतार बन गए हैं।

उदयशंकर का जन्म 8 दिसंबर 1900 को राजस्थान के उदयपुर शहर में हुआ था, इसलिए उनका नाम 'उदय शंकर' रखा गया। जैस्सोर (बंगलादेश) के मूल निवासी उदयशंकर के पिताजी पंडित श्याम शंकर राजस्थान चले आए थे जहां वे झालावाड़ महाराज के निजी सचिव थे। झालावाड़ के महाराजा कला प्रेमी और कला संरक्षक थे। प्रारम्भ में उदय का मन किताबों में नहीं लगा। माता-पिता को उनकी चिंता रहती थी, तब उन्हें पता नहीं था कि उदय में जन्मजात कलाकार छिपा बैठा है। वे अपनी मां हेमांगिनी के साथ जहां भी जाते वहां नृत्य समारोहों में जरूर जाते और उनका अध्ययन करते। बनारस में गाज़ीपुर के पास नसरतपुर गांव में, राजस्थान, बंगाल और अन्य जगहों पर भी वे अहीरों, चमारों, भीलों, मारवाड़ियों के नृत्य देखते। शुरू में चित्रकला के प्रति उनके रुझान को देखते हुए उनके पिता ने 1918 में उन्हें जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट में भेजा, जहां उन्होंने असाधारण रुचि दिखाते हुए दो वर्ष में ही पाठ्यक्रम पूरा कर लिया। संगीत में गहरी रुचि होने के कारण मुंबई में वे गंधर्व महाविद्यालय भी जाते थे।

1920 में उदय शंकर रॉयल कॉलेज ऑफ आर्ट्स, लंदन में पढ़ने गए। रॉयल कालेज के प्रेसीडेंट सर विलियम रोथेंस्टीन भारतीय कला प्रेमी विद्वान थे। उन्होंने उदयशंकर को ब्रिटिश म्यूजियम के क्यूरेटर के पास भेजा। ब्रिटिश म्यूजियम में उदय ने कला पर सैंकड़ों किताबें पढ़ीं और उनकी आंखें खुल गईं। उन्हें पहली बार पता लगा कि हमारे देश में भी कला की अकूत संपदा है। हमारे देश में भी कला, संगीत, संस्कृति और नृत्य की महत्वपूर्ण विरासत छिपी है जिसे खोजने, पहचानने की जरूरत है। कला के अंतिम वर्ष में प्रथम श्रेणी पाने पर आगे अध्ययन करने के लिए उन्हें छात्रवृत्ति मिली।

उदयशंकर ने शास्त्रीय नृत्य परंपराओं का पुनराविष्कार किया और शताब्दियों से दबी-ढंकी नृत्य पद्धतियों की पुनः पहचान की। रामायण, महाभारत जैसे मिथकों से प्रेरणा लेने के साथ-साथ उन्होंने जनजातीय नृत्य रूपों की पहचान की। मिथकों से प्रेरणा लेने वाले उदयशंकर आज स्वयं एक मिथक बन चुके हैं। अवतारों पर नृत्य करने वाले आज खुद एक अवतार बन गए हैं।

मंडली के साथ नृत्यरत उदयशंकर

उदयशंकर द्वारा कालेज में प्रस्तुत किए गए एक नृत्य से लेडी डौरावती टाटा बहुत प्रभावित हुईं और उन्होंने भारत दिवस पर लंदन के वैम्बले थियेटर में प्रदर्शन करने के लिए उनसे कहा। सम्राट जार्ज पंचम ने उनका शिव नृत्य देखा और उन्हें बधाई दी। शंकर के पिता विद्वान होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ भी थे। वे लंदन में 1914 से 1924 तक रहे और वहीं उन्होंने भारतीय नाटक, नृत्य और संगीत के कार्यक्रम रखे। तभी रूसी नर्तकी अन्ना पावलोवा उदय के संपर्क में आईं और उन्होंने उदयशंकर की नृत्य मुद्राओं पर आधारित प्रख्यात चित्र 'अजंता' बनाया, जिसमें उदयशंकर खुद अजंता की एक मूर्ति बने हुए हैं। उन्होंने ही उदयशंकर को 'राधा-कृष्ण और हिंदू विवाह' नृत्य संरचनाएं करने को उकसाया। इसमें उदयशंकर कृष्ण बने और पावलोवा राधा बनीं। रॉयल ओपेरा हाऊस में यह नृत्य खूब हिट हुआ। पावलोवा उन्हें अपने नृत्य दल में शामिल करके अमरीका ले गईं।

1929 में उदयशंकर जब भारत लौटे तो एक चित्रकार की हैसियस से नहीं, बल्कि एक नर्तक की हैसियत से। हालांकि चित्रकला में उनके पास रॉयल कॉलेज की डिग्री थी। विलियम रोथेंस्टीन के शिष्य को नर्तकी पावलोवा ने हड़प लिया था, लेकिन पावलोवा सही थी। किसी चित्रकार और मूर्तिकार के पास ऐसी दिव्यदेह नहीं थी जैसी उदय के पास थी। वे जन्मजात नर्तक थे। भव्य दिव्य देह के स्वामी रवीन्द्रनाथ ने भारतीय कविता को, अवनीन्द्रनाथ ने भारत की चित्रकला को विश्व के सामने प्रस्तुत करने में जो काम किया, वही काम उदयशंकर ने भारतीय नृत्य के लिए किया है। ऐसे समय जब नृत्य को नाचने-गाने वालियों, बाईयों, देवदासियों और मिरासियों का काम माना जाता था, उदयशंकर ने भारतीय नृत्य को नई शास्त्रीय ऊंचाइयां, प्रदान कीं।

उदयशंकर के तीन भाई हैं - देवेन्द्र, राजेन्द्र और रविशंकर। पं. रविशंकर प्रसिद्ध संगीतकार हैं। उन्होंने अपने दादा की कला के बारे में खूब लिखा है।

1935 में उदय की मुलाकात अमला नंदी से हुई जो पैरिस गई हुई थीं। वे भी उनकी मंडली में शामिल हुईं और 1942 में उन्होंने उससे विवाह कर लिया। अमला शंकर ने अभी कुछ वर्ष पहले 82 वर्ष की उम्र में उदयशंकर जन्म शताब्दी समारोह में दिल्ली कमानी सभागार में

नृत्य प्रस्तुत किया था। ममता शंकर प्रख्यात अभिनेत्री इनकी बेटी हैं। 1937 में उदयशंकर जब कलकत्ता लौटे तो रवीन्द्रनाथ ने उनका भरपूर स्वागत अभिनंदन किया। तब वे अपनी नृत्य मुद्राओं से विश्व विजय कर चुके थे। अल्मोड़ा में जब संस्कृति केन्द्र खोलने की सूचना पंडित जवाहरलाल नेहरू को मिली तो उन्होंने भरपूर समर्थन दिया। 1937 में हिमालय की गोद में अल्मोड़ा में नृत्य का प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया। उन्होंने अपने अल्मोड़ा केन्द्र में तकनीकी और शास्त्रीय नृत्यों भरतनाट्यम, कथकली और मणिपुरी के लिए आधारभूमि तैयार की। संगीत और चित्रकला में भी उन्होंने कई महत्वपूर्ण काम किए। वहां कड़ा अनुशासन रखा जाता था और विद्यार्थियों को स्वयं की सृजनात्मकता उभारने का अवसर दिया जाता था। समकालीन नृत्य के पितामह नरेन्द्र शर्मा कहते हैं – ''हम आज भी उदयशंकर से प्रेरणा लेते हैं जिन्होंने 30 के दशक में भारत में समकालीन नृत्य प्रस्तुत किया था।''

अभी भी भारतीय समकालीन नृत्यशैली में उदयशंकर की नृत्य शैली का जितना अनुकरण किया जाता है उतना किसी और नृत्य गुरु का नहीं किया जाता।

रवीन्द्रनाथ ने भारतीय कविता को, अवनीन्द्रनाथ ने भारत की चित्रकला को विश्व के सामने प्रस्तुत करने में जो काम किया, वही काम उदयशंकर ने भारतीय नृत्य के लिए किया है। ऐसे समय जब नृत्य को नाचने-गाने वालियों, बाईयों, देवदासियों और मिरासियों का काम माना जाता था, उदयशंकर ने भारतीय नृत्य को नई शास्त्रीय ऊंचाइयां, प्रदान कीं।

बर्फीले हिमशिखरों की छाया में अल्मोड़ा में पहली मार्च 1940 को जो 'उदयशंकर भारत संस्कृति केन्द्र' खोला गया, उसमें सचमुच भारत की संस्कृति का समूचा प्रतिनिधित्व था। तंजौर, केरल, असम, गुजरात, उड़ीसा, संयुक्त प्रांत, उत्तर प्रदेश, काठियावाड़ के विभिन्न नृत्य-समूहों के गुरु-शिष्य यहां कला साधना के लिए एकत्र हुए। शिष्यों को नृत्य-नाट्य की ही नहीं नृत्य संरचना (कोरियोग्राफी) की भी ट्रेनिंग दी गई। वस्त्र संरचना, पोशाक, मुखौटे, मेकअप और मंच सज्जा की भी दीक्षा दी गई। उदयशंकर को 280 तरह से तबला बजाना आता था। अल्मोड़ा का सारा खर्च उदय के विदेशी प्रशंसक उठाते थे। लंदन के उनके प्रशंसक उनकी विशेष मदद करते थे। रवि शंकर ने भी इनकी मंडली के लिए नृत्य किया था। कोष इकट्ठा करने के लिए इस मंडली ने भारत दौरा किया। कार्तिकेय, इन्द्र, चित्रसेना, शिव तांडव, शिव-पार्वती, उषा और चित्रलेखा, देवयानी और शर्मिष्ठा जैसे मिथकीय चरित्रों के साथ-साथ आधुनिक मनुष्य की विंडबनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए श्रम और मशीन, जीवन चक्र आदि का भी मंचन किया। साथ ही कुमाऊं, मारवाड़ी - भील और किसान नृत्य करके उन्होंने जनजातीय रूपों को अभिव्यक्ति प्रदान की। भारतीय कला रूपों को उन्होंने अपनी समस्त अस्मिता और राष्ट्रीयता के साथ अभिव्यक्त किया, साथ ही उन्हें एक वैश्विक ऊँचाई दी। अल्मोड़ा केंद्र से ही गुरुदत्त, शांतिवर्धन, सिम्मी, अमला, सचिन शंकर (बेटा), मोहन सेगल, सुंदरी श्री धराणी, प्रभात गांगुली, जोहरा सहगल, पं. नरेन्द्र शर्मा, देवीलाल सागर, भगवानदास आदि कई प्रख्यात शिष्य दीक्षित होकर निकले।

लेकिन वित्तीय कठिनाइयों के चलते अल्मोड़ा संस्कृति केन्द्र बंद करना पड़ा। खर्चे का बोझ ज्यादा हो गया था तथा अन्य व्यावहारिक समस्याएं आ खड़ी हुई थीं।

उदयशंकर ने अपनी सृजनात्मकता को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए 'कल्पना' फिल्म का निर्माण किया, जिसके गीत महाकवि पं. सुमित्रानंदन पंत ने लिखे थे। उदयशंकर ने उसका निर्देशन, निर्माण तो किया ही पटकथा भी लिखी। इसमें उनके व्यक्तित्व की समग्रता और प्रतिभा का समुच्चय है। इस महान् प्रतिभा का केवल यही एक दस्तावेज हमारे पास बचा है। चूंकि इसमें उनके महान कला व्यक्तित्व के कुछ टुकड़े ही जगह-जगह जोड़े गए थे, अत: व्यावसायिक रूप से यह फिल्म बुरी तरह पिट गई। 'कल्पना' में उदय और अमला की जोड़ी थी।

मद्रास के सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होकर उदय ने वहां भी एक घर बनाया जिसमें एक सभागार भी था। उन्होंने वहां एक नृत्य मंडली बनाई और चीन, यूरोप तथा अमरीका का भ्रमण किया।

1960 में वे कलकत्ता चले गए। वहां भी उन्होंने एक अन्य मंडली बनाई लेकिन उम्र असर करने लगी थी और स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। असम में नृत्य प्रदर्शन के दौरान ही उन्हें हृदयघात पड़ा। ठीक होते-होते अमेरिका दौरे पर चले गए जहां 1968-69 में उन्हें पक्षाघात का दौरा पड़ा। सेनडिएगो अस्पताल में ठीक होने के बाद वे भाई रविशंकर के साथ लास एंजेल्स में रहे।

गिरते स्वास्थ्य के बावजूद उनकी रचनात्मकता और शिथिलता मंद नहीं पड़ी थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर जन्म शताब्दी के लिए 1969 में उन्होंने एक भव्य प्रदर्शन किया।

महात्मा बुद्ध की 2500वीं जयंती पर बुद्ध के जीवन पर छाया नाटक तैयार किया। 71 बरस की पकी उम्र में भी शेक्सपियर की नई प्रस्तुति तैयार की। उनकी कला टैगोर के शब्दों में कहें तो केवल प्रांतीयता की चौहद्दी में सिमटकर नहीं रही।

उदयशंकर को देश-विदेश के अनेक पुरस्कारों से नवाज़ा गया। उन्हें संगीत नाटक अकादमी की रत्न सदस्यता, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांति निकेतन से 'देशिकोत्तम' तथा भारत सरकार से पद्म विभूषण मिला। रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय के वे पहले नाटक, नृत्यडीन बने। इसी विश्वविद्यालय ने उनकी स्मृति में एक सभागार का नाम उनके नाम पर रखा और वहां 'उदयशंकर पीठ' की स्थापना की गई। लेकिन आखिरी दिन उनके दुख भरे बीते। नेहरू फेलोशिप के लिए उनके आवेदन को ठुकरा दिया गया। कलकत्ता के एक अंधेरे कोने में केवल अपने रसोइए और दो नौकरों के साथ वे गुमनामी में जीते रहे। बीमारी में उनको अकेलेपन का संताप डस रहा था। उनके अपने परिवार ने उन्हें अकेला छोड़ दिया था और उन लोगों ने भी, जो अच्छे दिनों में उनके साथी थे। भाई रविशंकर ने विदेशों में उनके रहने की पक्की व्यवस्था की थी, पर उदय वहां रहे नहीं। लाखों, करोड़ों में खेलने वाला महान कलाकार भूखों मर रहा था। पहाड़ों की ऊंचाइयों पर खिला सोने सा दमकता सूरज कलकत्ता के फ्लैट में धीरे-धीरे अस्त हो रहा था। राजा-रानी की सोने की पोशाकें अब धूल खा रही थीं।

लाखों, करोड़ों में खेलने वाला महान कलाकार भूखों मर रहा था। पहाड़ों की ऊंचाइयों पर खिला सोने सा दमकता सूरज कलकत्ता के फ्लैट में धीरे-धीरे अस्त हो रहा था। राजा-रानी की सोने की पोशाकें अब धूल खा रही थीं।

26 सितंबर 1977 की सुबह 6 बजकर 10 मिनट पर आखिर जब मृत्यु आई तो उन्होंने उसे गले लगा लिया क्योंकि वही अब उन्हें कष्ट से, अकेलेपन की यातना से मुक्ति दिला सकती थी। उन्होंने अपने बेटे-बेटी और पत्नी को आशीर्वाद दिया और चले गए अनजाने पथ की ओर। पश्चिम बंगाल सरकार ने राजकीय सम्मान के साथ उनकी अंत्येष्टि की। बंगाल में सभी सरकारी दफ्तर बंद कर दिए गए।

मृत्यु ने उन्हें गुमनामी के अंधेरे से निकालकर प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचा दिया था। रवीन्द्र भवन में उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने हजारों लोग पहुंचे। आकाशवाणी और दूरदर्शन पर उन्हें श्रद्धांजलि देने वालों की भीड़ लग गई। डाक विभाग ने उदयशंकर और उनकी नृत्यमंडली पर टिकट निकाले। उनके तांडव नृत्य का टिकट बहुत प्रसिद्ध हुआ। सत्यजीत रे ने उदयशंकर पर वृत्तचित्र बनाने की कोशिशें की लेकिन वह काम नहीं हो पाया।

अमला शंकर और ममता शंकर कोलकाता में उदयशंकर नृत्य विद्यालय चलाते हैं। वे उदयशंकर की नृत्य परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। नटराज अब नहीं हैं लेकिन उनके घुंघरुओं की आवाज अब भी सुनी जा सकती है। संगीत नाटक अकादमी ने उनकी जन्म शती पर 2001 में दिल्ली में एक सप्ताह तक एक नृत्य नाटक समारोह आयोजित किया था जिसमें इस जीनियस के काम की फिर पहचान की गई थी।

राजेन्द्र उपाध्याय
62, ब-लॉ अपार्टमेंट्स,
ए.जी.सी.आर. एन्कलेव,
दिल्ली-110092

उदयशंकर के सम्मान में जारी डाक टिकट

संस्कृत वाङ्मय के अनुसंधाता एवं भारतविद्-प्रो. मैक्समूलर

जगदीश प्रसाद वरनवाल 'कुंद'

बौद्धिकता का संचार कराने वाली संस्कृत विश्व की श्रेष्ठतम, प्राचीनतम एवं शब्द सामर्थ्य की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण भाषा है। इसमें वेद, उपनिषद, पुराण, अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत, गीता, मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तलम, हितोपदेश, पंचतन्त्र, कादम्बरी आदि अनेक वैदूष्यगर्भित कृतियों की रचना हुई है, जिनके चमत्कारिक सौन्दर्य, रस लालित्य एवं ज्ञानागार के आगे समूचा संसार सिर झुकाकर नमन करता हुआ दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहक है। यही कारण है कि भारत को समझने के लिए कई प्रमुख विदेशी अध्येताओं ने भी संस्कृत ग्रन्थों का ही आश्रय लिया। इन विद्वानों में फ्रेडरिक मैक्समूलर का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। उनके अनुसार ''विश्व की प्राचीनतम भाषा हिब्रू नहीं संस्कृत है, जो सभी आर्यों की मूल भाषा है और संसार भर की आर्य भाषाओं में जितने भी शब्द हैं वे संस्कृत की सिर्फ पांच सौ धातुओं से निकले हैं।'' ग्रीक साहित्य और संस्कृत साहित्य पर तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''ग्रीक साहित्य के अध्ययन का अपना उद्देश्य है और संस्कृत साहित्य के अध्ययन का अपना उद्देश्य है, परन्तु मुझे विश्वास है कि यदि समुचित भावना के साथ संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया जाए तो हमें पता चलेगा कि वह सब प्रकार की रस सामग्री से पूर्ण है, उसमें मानव की परिमार्जित रुचियों की सर्वसुन्दर अभिव्यंजना है तथा उससे हमें ऐसी शिक्षाएं सुलभ हो जाती हैं जो ग्रीक साहित्य में खोजे से भी नहीं मिलेंगी। यह एक ऐसा साहित्य है जो हमें, हमारे अवकाश के क्षणों का पूर्ण मूल्य दे सकता है।'' संस्कृत के आधार ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' के रचयिता पाणिनि के संबंध में उनका कहना था कि ''व्याकरण में मेरा दावा है कि कोई भी विद्वान किसी भाषा में पाणिनि के सूत्रों से अधिक भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य, वर्गीकरण और व्यापक संग्रह नहीं दे सकता है।'' अन्य कृतियों की भी प्रशंसा उन्होंने इन शब्दों में की है। ''मैं कालिदास की सुन्दर वर्णन शैली और उनके प्रसिद्ध नाटक 'शकुन्तला' की कलाभिव्यक्ति से इन्कार कैसे कर सकता हूँ जो वास्तविक है, इसी कवि की दूसरी कृति 'मेघदूत' एक प्रसिद्ध रूपक है जिसकी प्रशंसा और अधिक होनी चाहिए। वह कला की शुद्ध और परिपूर्ण कृति है।''

''यदि मुझे सम्पूर्ण विश्व में किसी ऐसे देश का चुनाव करना हो, जो प्रकृति द्वारा प्रदत्त समृद्धि, शक्ति और सौन्दर्य से सज्जित हो, जिसकी तुलना धरती पर स्वर्ग से की जा सकती हो तो मैं भारत का नाम लूंगा। यदि मुझसे पूछा जाए कि किस आकाश के नीचे मानवीय चेतना ने अपनी चुनी हुई शक्तियों को पूर्ण तथा विकसित किया है, जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है और उनमें से कुछ का समाधान ढूंढ़ निकाला है, जो उन लोगों द्वारा भी विचारणीय है, जिन्होंने प्लेटों, काण्ट आदि का अध्ययन किया है, तो मैं भारत की ओर हाथ उठाऊँगा।''

धर्म के विषय में उनका मानना था कि ''प्रत्येक धर्म को, यदि वह बुद्धिमान और मूर्ख की एकता चाहता है, वृद्ध और युवक का सामंजस्य चाहता है, नमनशील होना चाहिए। उसे उच्च, उदार और गम्भीर होना चाहिए, उसे सबको सहन करना पड़ेगा, सब में विश्वास करना पड़ेगा, सबमें आशा रखनी होगी और सहनशील होना होगा। जितना वह इस प्रकार का अधिक होगा, उतनी ही उसकी जीवन शक्ति होगी, उतना ही वह शक्ति सम्पन्न और सबके हृदय में स्थान पाएगा।'' धर्म के अध्ययन के लिए उन्हें भारतवर्ष ही सबसे उपयुक्त स्थान दिखाई पड़ा। उनकी दृष्टि में, ''भारतवर्ष की तुलना में कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां धर्म की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने के लिए इतनी सुविधाएं हों, इतना साहित्य हो।''

भारतवर्ष के संबंध में उनकी धारणा थी कि यह विश्व के सुन्दरतम देशों में से एक है। उनके मन में भारतवर्ष के प्रति बचपन से ही एक आत्मीयता का भाव पैदा हो गया था। इसी आत्मीयता ने भारत की भाषा संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें आन्दोलित किया और इस दिशा में आगे बढ़कर उन्होंने वह कार्य कर दिखाया जिससे

उनकी ख्याति जर्मनी, इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में फैल गई। भारत के प्रति झुकाव के पीछे उत्पन्न परिस्थितियों का अनावरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''कैसे मुझे भारत से प्यार हुआ, यह एक बहुत ही पुरानी, बहुत ही लम्बी कहानी है। हम उस वीर युवक की कहानी पढ़ा करते थे, कि कैसे एक सुन्दरी राजकुमारी उसके सपने में आती है और जब तक वह उसे खोज नहीं पाता, उसे चैन नहीं रहता और फिर वह सभी दानवों से लड़ते हुए उसे मुक्ति दिला कर अपने घर ले आता है। भारत का भी ऐसा ही एक चित्र मेरे मन में था और मेरी उम्र उस समय दस साल की भी नहीं थी। यह अजीब लग सकता है कि जर्मनी के एक छोटे से शहर में एक बच्चा 1833 ई. में ही भारत का सपना देख रहा था. . . मुझे अच्छी तरह याद है कि स्कूली दिनों में मेरी एक कापी में बनारस का एक बड़ा सा चित्र था। चित्र बहुत अच्छा नहीं था, लेकिन आज भी मैं उन पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को देख सकता हूं, जो गंगा नहाने के लिए घाट से नीचे उतर रहे थे। इस चित्र ने मेरी कल्पनाओं को प्रेरित किया और मैं सपने देखने लगा। उस समय भारत के बारे में मुझे क्या पता था? कुछ भी नहीं, सिवाय इसके कि वहां के लोग काले होते हैं, कि वहां विधवाओं को जला दिया जाता है, कि वे स्वर्ग जाने के लिए जगन्नाथ के रथ के नीचे दब कर जान दे देते हैं, लेकिन जो चित्र मैंने देखा, उसमें वे दुबले दिख रहे थे और मुझे वे खूबसरत लगे और वे कतई नीग्रो जैसे काले नहीं थे और गंगा के किनारे मस्जिद और मन्दिर मुझे देस्साउ के गिरजों और महलों से कहीं अधिक भव्य और सुन्दर लगे।''

'अष्टाध्यायी' के रचयिता पाणिनि के संबंध में मैक्समूलर कहना था कि ''व्याकरण में मेरा दावा है कि कोई भी विद्वान किसी भाषा में पाणिनि के सूत्रों से अधिक भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य, वर्गीकरण और व्यापक संग्रह नहीं दे सकता है।''

युवा मैक्समूलर

प्राकृतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक सम्पदाओं से भरपूर भारत से उनका जुड़ाव इस सीमा तक हो गया था कि इसकी तुलना स्वर्ग से करने में भी वह तनिक नहीं हिचके। 'इंडिया, ह्वाट कैन इट टीच अस' में अपने इन्हीं विचारों का उद्घोष करते हुए उन्होंने लिखा है कि, ''यदि मुझे सम्पूर्ण विश्व में किसी ऐसे देश का चुनाव करना हो, जो प्रकृति द्वारा प्रदत्त समृद्धि, शक्ति और सौन्दर्य से सज्जित हो, जिसकी तुलना धरती पर स्वर्ग से की जा सकती हो तो मैं भारत का नाम लूंगा। यदि मुझसे पूछा जाए कि किस आकाश के नीचे मानवीय चेतना ने अपनी चुनी हुई शक्तियों को पूर्ण तथा विकसित किया है, जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है और उनमें से कुछ का समाधान ढूंढ़ निकाला है, जो उन लोगों द्वारा भी विचारणीय है, जिन्होंने प्लेटों, काण्ट आदि का अध्ययन किया है, तो मैं भारत की ओर हाथ उठाऊँगा।'' मैक्समूलर के इस कथन को सामने रखने पर सहसा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों की याद आ जाती है –

भूलोक का गौरव प्रकृति का पुण्यलीलास्थल कहां?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहां।
सम्पूर्ण देशों में अधिक किस देश का उत्कर्ष है,
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥

जिस भारत भूमि से उन्हें अत्यन्त प्यार था, उसे वह नजदीक से देखना चाहते थे किन्तु इसमें उन्हें सफलता न मिल सकी और उनकी विवशता भरी पीड़ा इन शब्दों में प्रस्फुटित हुई। ''भारत का प्रत्यक्ष दर्शन, मेरे जीवन का यह स्वप्न, कभी सत्य नहीं हुआ, जब मैं जवान था, मेरे पास पर्याप्त धन नहीं था और बाद में जब मेरे भारतीय मित्रों ने बार-बार आमंत्रित किया तब मैं बहुत बूढ़ा हो चुका था और अपने काम को छोड़कर अधिक समय के लिए बाहर नहीं जा सकता था।'' जर्मनी के प्रख्यात हिन्दी विद्वान फ्रेडरिक श्लेन्डर ने भी मैक्समूलर की विवशता का वर्णन इन शब्दों में किया है। ''उनके जीवन की सबसे आश्चर्यजनक घटना शायद यह थी कि मैक्समूलर कभी भी उस देश की धरती पर कदम नहीं रख सके, जिसके साथ उनके बचपन के सपने जुड़े हुए थे और जिसके प्रति उनका सारा जीवन निवेदित था। भारत के इतिहास, धर्म, मिथकों और उसकी भाषाओं के साथ आजीवन बौद्धिक सम्पर्क के बावजूद वहां के लोगों के साथ प्रत्यक्ष परिचय, काशी के घाटों पर तीर्थ यात्रियों को देखने का उनका सपना, सपना ही रह गया।''

मैक्समूलर एक सधे हुए साधक थे, नए-नए तथ्यों की खोज में रमे रहने वाले एक सफल शोधकर्ता थे, चिन्तक थे, दार्शनिक थे। उनमें एक सर्वगुण सम्पन्न साहित्यकार की विलक्षण प्रतिभा थी। कलम और ज्ञान के धनी वह विद्वान रचनाकार थे। भाषा शास्त्र एवं भारतीय धार्मिक आध्यात्मिक वाङ्मय में सतत अध्ययनरत रहने वाले पाण्डित्य की वह अद्‌भुत प्रतिमूर्ति थे। भिन्न-भिन्न विषयों पर उन्होंने अनेक स्तरीय निबंधों एवं पुस्तकों की रचना की है।

उन्होंने कालिदास के मेघदूत का जर्मन भाषा में अनुवाद किया था जिसका प्रकाशन 1847 ई. में हुआ। उनकी कृतियों में लैंग्वेज ऑफ दी सीट ऑफ बार इन दी ईस्ट (1854), कम्परेटिव माइथॉलोजी (1856), हिस्ट्री आफ एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर (1859), लेक्चर्स आन दी साइंस आफ लैंग्वेज (1861-63), इन्ट्रोडक्शन टू दी साइन्स आफ रिलीजन (1873) प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उनकी लेखनी से भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकाश डालने वाली और भी बहुत सी रचनाएं नि:सृत हुई हैं। उनके नाम हैं चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप (4 खण्ड 1868-1875), दी हिवर्ट लेक्चर्स ऑफ दी ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन (1878), सेलेक्टेड एस्सेज (1881), बायोग्राफिकल एस्सेज (1983), नेचुरल, फिजिकल, एन्थ्रोपोलोजिकल एन्ड फिजिकल रिलीजन (ग्लासगो, गिफर्ड लेक्चर्स) (1992-1892), साइंस आफ माइथॉलोजी (2 खण्ड 1897)। उन्होंने 1856 ई. में एक उपन्यास भी लिखा था जिससे उन्हें अच्छी ख्याति मिली। इसमें एक अपंग जर्मन कांटेस और एक निर्धन युवक के प्रेम की कहानी वर्णित है। इस उपन्यास के संबंध में उनका कहना है कि ''इस उपन्यास के माध्यम से मैं अपने और दूसरों के लिए जो कुछ स्पष्ट करना चाहता था, वह यह है : क्यों हम अपने जन्मजात प्रेम के साथ दूसरों को इतना कम प्यार दे पाते हैं? क्योंकि प्यार हमेशा अपने परिवार, माता-पिता, पत्नी, बच्चों तक सीमित रहता है और इससे परे तक जाने की कोशिश क्यों आम तौर पर तड़प के साथ खत्म हो जाती है?'' उनकी पत्नी जार्जिना ने इस उपन्यास का जर्मन से अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। 1900 ई. में इस उपन्यास का 12वां संस्करण प्रकाशित हुआ। 1876 ई. से 1900 ई. के मध्य उन्होंने 'द सेक्रेड बुक ऑफ दी ईस्ट' का सम्पादन किया, जो 51 खण्डों में है। इस ग्रन्थमाला में प्रमुख बारह उपनिषदों का प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। इसके माध्यम से उन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए भारत विद्या पर शोध का आधार प्रस्तुत किया है। औड लैंग सिन (1898-99) और माई ऑटोबायोग्राफी (1901) उनकी आत्मकथात्मक कृतियां हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस की जीवनी भी उनके द्वारा लिखी गई है।

मैक्समूलर द्वारा ऋग्वेद पर अपनी टीका के प्रथम संस्करण के लिए प्रयुक्त पांडुलिपि 'ऋग्वेद संहिता' (काल 51 कश्मीर इरा), भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पुणे में उपलब्ध

उनकी लिखी हुई पुस्तक 'इंडिया ह्वाट कैन इट टीच अस' (भारत, वह हमें क्या सिखा सकता है?) भी काफी महत्वपूर्ण है। महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा में इस पुस्तक का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ''गहरी दिलचस्पी के साथ मैंने मैक्समूलर की पुस्तक, भारत वह हमें क्या सिखा सकता है? पढ़ी और साथ ही थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदों के उनके अनुवाद। इससे हिन्दू धर्म के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ी और मैं उसकी महानता से परिचित हो सका।'' इसी पुस्तक में उन्होंने उपनिषदों में समाए ज्ञान भण्डार पर प्रकाश डालते हुए विचार व्यक्त किया कि :

''मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूं। उपनिषद आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रहे हैं और आगे सदा रहेंगे। यह ज्ञान महान मनीषियों की महान प्रज्ञा का परिणाम है। एक न एक दिन भारत की यह श्रेष्ठ विद्या समस्त यूरोप में प्रकाशित होगी और तब हमारे ज्ञान एवं विचारों में महान् परिवर्तन उपस्थित होगा।''

वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन कर उन्होंने सायण द्वारा किए गए ऋग्वेद के भाष्य पर प्रमुख रूप से अपनी लेखनी डुलाई। 1849 से 1874 के मध्य उन्होंने ऋग्वेद का सम्पादन छः खण्डों में किया। इसके कारण उनकी गणना प्रमुख भारतविदों में की जाने लगी। अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। संस्कृत विश्वकोष व संस्कृत शब्दकोश के सम्पादक तथा बंगाल के तत्कालीन प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान राजा राधाकांतदेव ने मैक्समूलर द्वारा किए गए ऋग्वेद के अनुवाद के प्रथम दो खण्डों का सम्यक अध्ययन करने के पश्चात् अपनी सम्मति इन शब्दों में दी। ''ऐसे परिश्रमी कार्य का सफलतापूर्वक सम्पादन करते हुए आपने हिन्दुओं की अत्यन्त सहायता की है, क्योंकि आपने उनके पवित्र शास्त्र का एक सटीक व अत्यन्त सुन्दर संकलन प्रस्तुत किया है।''

'उनके जीवन की सबसे आश्चर्यजनक घटना शायद यह थी कि मैक्समूलर कभी भी उस देश की धरती पर कदम नहीं रख सके, जिसके साथ उनके बचपन के सपने जुड़े हुए थे और जिसके प्रति उनका सारा जीवन निवेदित था। भारत के इतिहास, धर्म, मिथकों और उसकी भाषाओं के साथ आजीवन बौद्धिक सम्पर्क के बावजूद वहां के लोगों के साथ प्रत्यक्ष परिचय, काशी के घाटों पर तीर्थ यात्रियों को देखने का उनका सपना, सपना ही रह गया।'

स्वामी विवेकानन्द मैक्समूलर की भारत विद्या की अन्तरंगता से बेहद प्रभावित थे। अपने आक्सफोर्ड प्रवास में स्वामी जी ने मैक्समूलर से भेंट की थी। प्राय: इन दोनों विद्वानों में धर्म, दर्शन, आध्यात्म पर चर्चाएं भी होती रहती थीं। स्वामी जी से प्राप्त जानकारी के आधार पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन और उपदेशों के दृष्टिगत मैक्समूलर ने एक पुस्तक लिख डाली। इस पुस्तक के प्रकाशन से स्वामी विवेकानन्द को अपने प्रचार कार्य में काफी सहायता प्राप्त हुई क्योंकि उनके गुरुदेव और वेदान्त के संबंध में इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गई थी और लेखक की विद्वत्ता की धाक पूरब-पश्चिम सर्वत्र जम चुकी थी। मैक्समूलर ने ही स्वामी जी को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय का परिभ्रमण कराया था। एक बार चर्चा के दौरान स्वामी जी ने उनसे भारत आने हेतु निवेदन किया और कहा कि ''आपने भारतीय मनीषा को जिस श्रद्धाभाव से विश्व भर में फैलाया है, इसे हम भारतवासी कभी नहीं भूल सकते। भारतवासी आपको अपने बीच पाकर धन्य हो उठेंगे।'' स्वामी जी की इस हार्दिकता को देखकर जीवन के उत्तरार्ध की ओर बढ़ते मैक्समूलर भावविह्वल हो उठे और उन्होंने कहा कि, ''मैं भारत अवश्य आऊंगा। पर सम्भव है, मैं वहां जाकर फिर वापस न आऊं। मेरा अंतिम संस्कार आप लोगों को वहीं करना पड़ेगा।'' स्वामी विवेकानन्द में उन्हें एक परमयोगी का दर्शन होता था। प्रस्थान के समय घोर आंधी पानी में भी वह उन्हें छोड़ने स्टेशन तक गए थे। स्वामी विवेकानन्द ने उनके बारे में लिखा है कि ''प्रोफेसर म्यूलर पश्चिम के विद्वानों के बीच शीर्षस्थ स्थान रखते हैं। ऋग्वेद जिसे कोई सम्पूर्ण रूप में देख नहीं सकता था, अब छपाई के सुन्दर अक्षरों में उपलब्ध है, हर कोई उसे आसानी से पढ़ सकता है, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किए गए विशाल खर्च व प्रोफेसर के वर्षों के परिश्रम का परिणाम है।'' हिन्दी के यशस्वी रचनाकार निराला जी भी उनके योगदान को याद करने में नहीं हिचकिचाए। उन्होंने लिखा कि आचार्य मैक्समूलर की 40 साल की तपस्या प्रसिद्ध है, जिससे वेदों का यथार्थ उद्धार हुआ और यंत्रालय से मुद्रित होकर निकलने की नौबत आई। वेदों के क्षेत्र में किए गए अपने योगदान को लेकर वह बेहद उत्साहित थे और बदले में प्राप्त सम्मान से उनकी खुशी का कोई ठिकाना न था। उन्होंने लिखा है कि, ''उन्होंने (भारतीयों ने) मुझे ऐसे उपहार भी भेजे हैं, जो सिर्फ ब्राह्मण पंडितों को भेजे जाते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि मैं पंडितों से भी अधिक वेदों का ज्ञाता हूं। यही नहीं, वे तो मुझे यज्ञोपवीत भी भेज चुके हैं और मेरे लिए यह किसी भी पदक से ज्यादा मूल्यवान है। मैक्समूलर के पाण्डित्य से हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' भी काफी प्रभावित थे। 'योरोपियन संस्कृत' निबंध में अपना विचार उन्होंने इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है- डाक्टर मैक्समूलर ने संस्कृत पढ़ने में बड़ा परिश्रम किया था। उसने मोम का कागज अक्षरों के ऊपर रखकर कलम फेरते-फेरते सम्पूर्ण सायण भाष्य की नकल की थी। उसने जर्मनी को शार्मण्य और आक्सफोर्ड को उक्षातरण बनाया। उनके भक्त भारतवासियों ने उन्हें भट्ट की उपाधि दी

और उनका नाम शुद्ध होकर मोक्षमूलर बन गया। उनके सम्पादित ऋग्वेद के अंत में श्लोक है –

शार्मण्य देश जातेन उक्षयत्र निवासिना।
मोक्षमूलर भट्टेन पुस्तकमिदं शोधितम्।

मैक्समूलर के कार्य की देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने काफी सराहना की थी किन्तु कतिपय भारतीय विद्वानों के अनुसार उन्होंने वेदों और अन्य भारतीय धर्मशास्त्रों के स्वरूप को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया और किसी-न-किसी रूप में ईसाइयत की मान्यताओं को वह बल प्रदान करते रहे। ''भारतवर्ष का वृहद इतिहास'' के लेखक पण्डित भगवद्दत्त ने उनके बारे में लिखा है कि ''मैक्समूलर पर अंग्रेज राजनीतिज्ञ मैकाले का अत्यधिक प्रभाव पड़ा उसका सारा जीवन उसी नीति को सफल करने में लगा। इसका नाम भारतीय जनता में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसके दो कारण थे। प्रथम था उनका बहुग्रन्थ निर्माण कर्म। दूसरा था स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों और लेखों में उसका कठोर खण्डन। ब्रह्मदत्त भारती का मानना था कि प्राचीन भारत के उनके अध्ययन का एक मात्र लक्ष्य था भारत में ईसाई मिशन की मदद करना और हिन्दू धर्म को मृत्युबाण से भेदना। स्वामी दयानन्द की भाषा में भी मैक्समूलर के प्रति विरोध का ही भाव प्रकट होता है। सत्यार्थ प्रकाश में लिखा गया है कि अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावर्त देश मैं है उतना किसी अन्य देश में नहीं। जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृत विद्या का बहुत प्रचार है और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं, उतना कोई नहीं पढ़ा, यह बात कहने मात्र है क्योंकि जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में अरण्ड को ही बड़ा वृक्ष मान लेते हैं, वैसे यूरोप देश में संस्कृत विद्या का प्रचार न होने से जर्मन लोगों और मोक्षमूलर साहब ने थोड़ा सा पढ़ा वही उस देश के लिए अधिक है। किन्तु इससे बेखबर

मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द के प्रति अपना सम्मानजनक विचार इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया और जहां तक समाज सुधार का संबंध है, बड़े उदार हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य किए, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण विज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।''

ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा विदेशों में भारतवासियों के संबंध में किए जाने वाले मिथ्या प्रचार पर जर्मन चिन्तकों की अवरोधवादी विचारधारा पर संतोष प्रकट करते हुए डा. रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि ''भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म का जो बखान जर्मन विद्वानों ने किया, उससे एक लाभ यह भी हुआ कि ईसाई धर्म प्रचारक भारत से बाहर भारतवासियों के विषय में जो मिथ्या प्रचार कर रहे थे, उसका खोखलापन चिन्तकों के सामने प्रत्यक्ष होने लगा एवं धीरे-धीरे अंग्रेज यह सोच कर गौरव अनुभव करने लगे कि उनके साम्राज्य में भारत जैसा देश है। मैक्समूलर ने भारत की सेवा अनेक प्रकार से की। यह एनीबेसेन्ट और मैक्समूलर जैसे लोगों की ही निष्पक्षता और उदारता का परिणाम था कि मिशनरियों के दंश में कमी आई और संसार भारत के सात्विक रूप को पहचानने में समर्थ हुआ।'' प्रख्यात इतिहासकार रोमिला थापर ने अपना विचार इन शब्दों में व्यक्त किया है। अठारहवीं शताब्दी में भारत के अतीत की खोज और यूरोप के सामने उसे प्रस्तुत करने का काम अधिकांशतया भारत में जेसुइट सम्प्रदाय के लोगों और सर विलियम जोंस तथा चार्ल्स विल्किंस जैसे ईस्ट इंडिया कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों ने किया। जल्दी ही भारत की प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन में दिलचस्पी लेने वालों की संख्या बढ़ गई और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भाषा

विज्ञान, नृशास्त्र तथा भारत विद्या के अन्य क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति दिखाई दी। यूरोप में विद्वानों ने अध्ययन के इस नए क्षेत्र में गहरी दिलचस्पी दिखाई, जिसका प्रमाण उन लोगों की संख्या है जिन्होंने भारत विद्या को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया और जिनमें से कम से कम एक व्यक्ति का उल्लेख यहां आवश्यक है वह है मैक्समूलर।''

फ्रेडरिक मैक्समूलर का जन्म 6 दिसम्बर 1823 ई. को जर्मनी के दस्साउ नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता विल्हेम म्यूलर ड्यूकल पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। उनकी गणना जर्मनी के प्रमुख विद्वान के रूप में ही नहीं बल्कि जर्मन की गीतात्मक कविताओं को प्रस्तुत करने वाले प्रथम कवि के रूप में भी की जाती थी। मैक्समूलर की प्रारम्भिक शिक्षा देस्साउ में ही हुई। 1841 ई. में उन्होंने लाइपजिंग विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया जहां उन्होंने हर्मन और हाप्ट के अधीन ग्रीक और लैटिन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। 1843 ई. में 20 वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली थी। ओ.एच. ब्रोकहास के संरक्षण में उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारंभ कर दिया और इसमें उन्हें विशेष दक्षता प्राप्त हुई। संस्कृत के प्रति उनके मन में कैसे प्रेम जागृत हुआ? इसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि, ''यह वह समय था, जब मैंने स्कूल की पढ़ाई खत्म की और सन् 1841 ई. में लाइपजिंग विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ, कि एक निश्चित विचार मेरे मन में लौट-लौट कर आने लगा और एक ठोस रूप लेने लगा। फिर मुझे पता चला कि विश्वविद्यालय में संस्कृत शिक्षा का नया विभाग शुरू किया जा रहा है। अचानक मेरा मन उत्सुकता से भर उठा। अरब भाषा के साथ मेरा थोड़ा-सा परिचय हो चुका था, लेकिन अब संस्कृत के प्रति मेरा गहरा लगाव होने लगा।''

मैक्समूलर

संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक भाषा शास्त्र मिथकों व दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में शोध का मार्ग अपनाया और सर्वप्रथम हितोपदेश का जर्मन भाषा में अनुवाद किया जो लिपचिग से 1844 ई. में प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में वेदों के संबंध में उनकी जिज्ञासा बढ़ती गई और 1845 ई. में उन्होंने ऋग्वेद के अनुवाद एवं सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वैदिक साहित्य और भारत शास्त्र के अध्ययन के संबंध में वह 1846 ई. तक बर्लिन, पेरिस आदि स्थानों पर घूमते रहे तथा यहां के विद्वानों के सान्निध्य में शोधकार्य को त्वरा देते रहे। इसके पश्चात् जून 1846 में वह इंग्लैंड गए और वहीं बस गए तथा यहां की नागरिकता प्राप्त कर ली। लन्दन और ऑक्सफोर्ड में रहकर उन्होंने ईस्ट इंडिया हाउस और बोडेलिया हाउस में उपलब्ध वेद एवं अन्य ग्रन्थों की अनेक महत्वपूर्ण पांडुलिपियों का अवलोकन और अध्ययन किया। 1850 ई. में उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर का पद प्राप्त हुआ और चार साल बाद प्रोन्नति पाकर वह आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हो गए। 1857 ई. में उन्हें मास्टर आफ आर्ट्स की सम्मानित उपाधि प्रदान की गई। 1859 ई. में उनका विवाह जार्जिना नामक एक विदुषी महिला से हुआ और उन्होंने उनके कार्य में पूरा हाथ बंटाया। इसी वर्ष उनकी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ऐनसियेन्ट संस्कृत लिटरेचर' प्रकाशित हुई। इसमें संस्कृत साहित्य के कालानुक्रम के संबंध में प्राप्त की गई खोजों का विवरण दिया गया है। मई 1860 ई. में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एच. एच. विल्सन की मृत्यु के पश्चात् उन्हें उम्मीद थी कि इस पद पर वे नियुक्त कर लिए जाएंगे किन्तु जर्मन होने और धर्म के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण रखने के कारण उनकी नियुक्ति न की जा सकी और इस पद पर मोनियर विलियम्स को रख लिया गया। इससे उन्हें काफी पीड़ा हुई किन्तु अन्य स्थानों पर कार्यरत होकर अपने पाण्डित्य से उन्होंने काफी सम्मान प्राप्त किया। 1866 ई. में वह तुलनात्मक भाषा विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1875 ई. में मैक्समूलर ने अध्यापक के दायित्वों से मुक्ति प्राप्त की और अपनी पूरी मानसिक ऊर्जा प्राच्य साहित्य के अध्ययन, शोध आदि के प्रति लगा दी। 1870 से 1878 ई. के मध्य उन्होंने धर्म के विविध रूपों, साकार-निराकार की उपासना, देववाद-नास्तिकवाद, भारतवर्ष का वैदिक साहित्य, उपनिषद, वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि गम्भीर विषयों पर सात महत्वपूर्ण भाषण दिए थे, जो 'धर्म की उत्पत्ति एवं विकास' पुस्तक में संग्रहीत हैं। ब्रिटिश सरकार ने भारत जाने वाले प्रशासनिक अधिकारियों (आई.सी.एस.) को भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य से अवगत कराने हेतु सामाजिक सांस्कृतिक सलाहकार के रूप में उन्हें अधिकृत किया था। इस दायित्व का निर्वहन करते हुए उन्होंने प्रशिक्षुओं के लिए कैम्ब्रिज में 1882 में अनेक विद्वत्तापूर्ण भाषणों को प्रस्तुत किया। इन भाषणों का संग्रह

'भारत हमें क्या सिखा सकता है' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के तत्कालीन संस्कृत प्रोफेसर ई.वी. काबेल को समर्पित की गई है। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत जाने वाले ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों के मन में भारत की अच्छी छवि नहीं थी और वे भारत के बारे में अनेक शंकाओं से ग्रस्त थे। मैक्समूलर ने ही अपने भाषणों से इन प्रशिक्षु अधिकारियों के हृदय को भयमुक्त करते हुए भारतवर्ष की अकूत ज्ञान सम्पदा एवं यहां के लोगों की अच्छाइयों से परिचित कराया।

'भारत का प्रत्यक्ष दर्शन, मेरे जीवन का यह स्वप्न, कभी सत्य नहीं हुआ, जब मैं जवान था, मेरे पास पर्याप्त धन नहीं था और बाद में जब मेरे भारतीय मित्रों ने बार-बार आमंत्रित किया तब मैं बहुत बूढ़ा हो चुका था और अपने काम को छोड़कर अधिक समय के लिए बाहर नहीं जा सकता था।'

वे विद्वान, दार्शनिक, संस्कृतज्ञ तो थे ही, प्रमुख शिक्षाशास्त्री भी थे। वे चाहते थे कि मात्र परीक्षा उत्तीर्ण करना ही छात्रों का उद्देश्य न हो अपितु भविष्य को आगे बढ़ाने वाला उनका ज्ञान भी परिपक्व हो। उन्होंने यह लिखा है कि ''विश्वविद्यालयों का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि वे परीक्षाओं के लिए मात्र सोपान का काम देते रहें, बल्कि उनका उद्देश्य यह भी है कि जिनकी शिक्षा इन विश्वविद्यालयों में दी जा सकती है, दी जानी चाहिए। विश्वविद्यालयों के स्नातकों को केवल इस प्रकार का न होना चाहिए कि वे बाजार में अच्छे मूल्य पर बिके बल्कि उन्हें ऐसा भी होना चाहिए कि छात्र जीवन में प्राप्त ज्ञान उनके छात्रोत्तर जीवन के लिए उपयोगी हो सके और यही उपयोगिता हमारे दैनन्दिन कार्यों में रस उत्पन्न करती है, इसी से अपने को सौंपे गए कार्यों के प्रति हममें प्रेम भावना का संचार होता है और इससे भी आगे बढ़कर आनन्द एवं आह्लाद की सृष्टि करता है।'' 1886 ई. में उन्होंने राष्ट्रगीत 'गॉड सेव द क्वीन' की तीन पंक्तियों का संस्कृत में अनुवाद किया था। 1892 ई. में लंदन में नौवें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य वैज्ञानिक अधिवेशन का आयोजन किया गया था, जिसके वह अध्यक्ष चुने गए थे। उन्हें भारत से प्रेम था। 1898 ई. में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक को जब गिरफ्तार किया गया था तो उनकी मुक्ति के लिए साम्राज्ञी से प्रार्थना करने वालों में एक वह भी थे। फलस्वरूप साम्राज्ञी के आदेश से तिलक समय से पहले जेल बन्धन से मुक्त हुए। 28 अक्टूबर 1900 ई. को उनका देहान्त हुआ तथा उनके शव को ऑक्सफोर्ड के होलीबेल कब्रगाह में दफनाया गया। उनकी अन्तेष्टि में जर्मन, ब्रिटेन, स्वीडन और श्याम देश के सम्राटों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

मैक्समूलर

मैक्समूलर का जन्म जर्मनी में हुआ था, जीवन का अधिकांश भाग इंग्लैंड में बीता किन्तु अपनी भारी मानसिक ऊर्जा उन्होंने भारतशास्त्र एवं वैदिक साहित्य के अध्ययन में खपाई। 'दिनकर' ने लिखा है कि ''लगता है सायण की आत्मा ही जर्मनी में मैक्समूलर बनकर जनमी थी, क्योंकि वेदों के उद्धारकों में जैसा स्थान इस विद्वान का माना जाता है, वैसा और किसी का नहीं है। यद्यपि उन्होंने अपने लेखन में भारत वर्ष की प्रशंसा की, वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में शोध के प्रति अनुराग उत्पन्न किया किन्तु यह भी सच है कि ईसाइयत के प्रति प्रगाढ़ता के भाव से वह मुक्त न हो सके थे। फिर भी भारत के प्रति उनकी निष्ठा एवं उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।'' इस संबंध में पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का यह कथन ध्यातव्य है-''भारतवासी विद्वान पुस्तक-जड़ कहे जाते हैं और संस्कृत भाषा की लीलास्थली भारतवर्ष को छोड़कर जर्मनी हो गई, ऐसा बारम्बार सुनाई देता है। जर्मनी में संस्कृत कैसे पढ़ी जाती है उस पर ध्यान दिया जाता है और जर्मनी के पठन प्रकारों की संस्कृत की जन्मभूमि में कलम लगाने का प्रस्ताव परम गंभीरता से किया जाता है। मेरा यह उद्देश्य कभी नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातत्व, भाषा विज्ञान आदि की गवेषणा में संस्कृत को जो गौरव दिया है और उनके प्रयोग से अपने ऊपर जो गौरव डाला है, उसको तुच्छ ठहराऊं या उसका उपहास करूं। उनके मार्गों को खोलकर वह काम किया है, जो भारतवासियों को करना चाहिए था। यदि उसने कभी कोई श्रम भी किया हो तो उस भाषा के अध्ययन की कठिनाइयों के सामने वह श्रम क्षन्तव्य है।''

- जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुन्द'
रेलवे स्टेशन बाजार
आज़मगढ़ (उत्तर प्रदेश)

रोहिताश्व

दक्खिनी हिन्दी : इतिहास के परिप्रेक्ष्य में

दक्खिन प्रदेश की अपनी एक विशेष राजनैतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गरिमा रही है। वर्तमान दौर में भी दक्खिनी हिन्दी-उर्दू (कदीम उर्दू) के केन्द्रीय स्थल, आंध्र प्रदेश ही नहीं है, बल्कि भाषावादी प्रांतों की रचना के कारण इसके कतिपय हिस्से, पूर्वकालीन कुतुबशाही शासन (मध्ययुगीन दौर) एवं ब्रिटिश कालीन निज़ाम स्टेट के कर्नाटक (बीदर, गुलबर्गा, रायचूर, बीजापुर), महाराष्ट्र (बीड़, उस्मानाबाद, नान्देड, परभणी) व तमिलनाडु (तिरुपति, चित्तूर के पास का इलाका) में सम्मिलित कर लिए गए हैं। दक्खिन प्रदेश की पुरानी उर्दू-हिन्दी की सांस्कृतिक विरासत का सम्यक् मूल्यांकन राहुल सांकृत्यायन, बाबूराम सक्सेना, श्रीराम शर्मा, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, रामविलास शर्मा, विमला वाघ्रे, नसरुद्दीन हाशमी, परमानंद पांचाल, इकबाल अहमद, सुरेश अवस्थी, नूरजहां, वेद प्रकाश शास्त्री, मुहम्मद कुंज मेत्तर और कृष्ण कुमार गोस्वामी आदि ने करने का प्रयास किया है।

दक्खिन प्रदेश उत्तर तथा दक्षिण, आर्य और द्रविड संस्कृतियों के मिलन का क्षेत्र रहा है। इस सम्मिलन और सम्मिश्रण के कारण दक्खिन ने (13वीं शताब्दी से ही) एक ऐसी संस्कृति के विकास में आरम्भ से योगदान दिया है, जिसमें दोनों की विशेषताएं रही हैं

श्री राम शर्मा के शब्दों में "दक्खिन प्रदेश उत्तर तथा दक्षिण, आर्य और द्रविड संस्कृतियों के मिलन का क्षेत्र रहा है। इस सम्मिलन और सम्मिश्रण के कारण दक्खिन ने (13वीं शताब्दी से ही) एक ऐसी संस्कृति के विकास में आरम्भ से योगदान दिया है, जिसमें दोनों की विशेषताएं यह रही हैं कि वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व न रखकर उत्तर तथा दक्षिण में समान रूप से फैलीं। उनके इस फैलाव के कारण हमारे चिन्तन तथा जीवन में साम्यता स्थापित हुई। यह प्रदेश संस्कृतियों और विचारों का संगम स्थल नहीं है अपितु यहां अनेक जातियों और भाषाओं का मिलन भी हुआ। तमिल और मलयालम को छोड़कर दक्षिण भारत की तेलुगु, कन्नड और मराठी का सम्मिलन भी इस प्रदेश की दक्खिनी हिन्दी में हुआ है। आगे चलकर हिन्दी और उर्दू साहित्य के विकास में दक्खिन प्रदेश के पश्चिमी घाट गोवा-कोंकण पट्टी ने भी भाषाई संगम के स्रोतों की वृद्धि की है।

दक्खिन का अस्तित्व पिछले दो हजार वर्षों से भारतीय सभ्यता, संस्कृति और साहित्य में सेतुबन्ध का कार्य कर रहा है। ईसा पूर्व दो सौ वर्षों से लेकर ईसा पश्चात् दो सौ पच्चीस वर्ष तक इस क्षेत्र पर आन्ध्र भृत्यों या आन्ध्रों का शासन रहा। 225 से 550 ईसवी तक राष्ट्रकूट वंश (विवादास्पद) और तत्पश्चात् चालुक्य वंश का साम्राज्य स्थापित हुआ। चालुक्य वंश के पराक्रमी राजा पुलकेशी द्वितीय (608-642 ई.) ने पाण्डय, केरल व पल्लव राज्यों को ही नहीं जीता बल्कि गुजरात, राजस्थान तथा मालवा पर भी आक्रमण किया। पुलकेशी द्वितीय ने 620 ईसवी के लगभग हर्षवर्द्धन को दक्षिणी क्षेत्र में आक्रमण करने पर हराया था। ईरान के राजा खुसरो (द्वितीय) और पुलकेशी (द्वितीय) का दौत्य सम्बन्ध था। अजन्ता की प्रथम गुफा में ईरानी दूत चालुक्य नरेश को भेंट देता हुआ चित्रित किया गया है। चालुक्यों के वंशजों का आगमन उत्तर से कभी पूर्व काल में दक्षिण की ओर हुआ था। 641 ईसवी में हुएनसांग पुलकेशी के दरबार में आया था।

चालुक्यों के बाद कर्नाटक में ही मान्यखेट (वर्तमान मलखेड, गुलबर्गा जिला) राष्ट्रकूटों की राजधानी रहा है जिसका प्रामाणिक इतिहास डाक्टर ए एस अल्तेकर ने 'दी राष्ट्र कूटाज एण्ड देयर टाइम्स' में लिखा है। इनका शासन मध्यप्रदेश के महू-होशंगाबाद तक रहा, जहां फ्लीट ने राष्ट्रकूट से ही राठौर या राठौड़ शब्द की व्युत्पत्ति संभव मानी है और इनका सम्बन्ध राजपूताना, कन्नौज के राजवंशों से संभव माना है, वहां सी. वी. वैद्य ने राष्ट्रकूटों को मराठी भाषा और मराठा जाति से संबंधित बतलाया है। राष्ट्रकूटों के समय कन्नड भाषा की अत्यधिक उन्नति हुई तथा उस समय के शिलालेख, ताम्रपत्र संस्कृत भाषा में भी उपलब्ध हैं।

दक्खिनी हिन्दी-उर्दू के इतिहास में राष्ट्रकूटों का विशेष महत्व इसलिए भी है कि उन्होंने अप्रभंश भाषा के समकालीन कवियों को

कन्नड व संस्कृत भाषा के समकक्ष ही आश्रय दिया था और इनका प्रभाव गुजरात पर भी रहा। प्राचीन अपभ्रंश के महान् कवि कण्हपा दक्षिण के ही कवि थे और अपभ्रंश के कवि पुष्पदंत या पुफ्फयन राष्ट्रकूटों के यहां रहते थे। उन्होंने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट (मलखेड़) का विस्तार से वर्णन किया है।

राष्ट्रकूट वंश के बाद दक्खिन में तीन राजवंशों का शासन स्थापित हुआ। वारंगल में काकतीय, देवगिरि में यादव और द्वार समुद्रम में होयसाल राज करने लगे। यादवों के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ एक मत नहीं हैं। पर यह तय है कि यादव वंश में सबसे प्रतापी राजा रामचन्द्र पुत्र भिल्लर (1271-1301) था, जिनका प्रधानमंत्री हेमाद्रि विद्वान और राजनीतिज्ञ हुआ। यादवों का प्रभुत्व स्यूण क्षेत्र (नासिक से देवगिरि) पर ही नहीं बल्कि किसी काल में सम्पूर्ण महाराष्ट्र, दक्षिणी कोंकण, बेलगांव, बीजापुर, धारवाड़, बेल्लारी और दक्षिण पश्चिमी आंध्र पर भी था।

इब्नबतूता ने देवगिरि की यात्रा की थी। उसने देवगिरि के बारे में लिखा है - ''इस प्रदेश के निवासी मराठा हैं जिनकी स्त्रियों को भगवान ने विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है, उनकी नाक और भौंहे बहुत सुन्दर होती हैं। यहां के निवासी उद्योग धन्धों को बहुत प्यार करते हैं। मोतियों का व्यापार मुख्य है। उनकी सम्पत्ति अपार है और वे शाह कहलाते हैं।''

देवगिरि ने साहित्य तथा स्थापत्य की उन्नति में बहुत योगदान दिया है। जिन दिनों अलाउद्दीन खिलज़ी (1295) ने देवगिरि पर पहला आक्रमण किया था, सन्त ज्ञानेश्वर और उनके साथी मराठी में 'ज्ञानेश्वरी' तथा अन्य ग्रंथ लिख रहे थे। 1306-07 में अलाउद्दीन खिलज़ी ने दूसरी बार आक्रमण किया। राजा रामदेव के पुत्र शंकरदेव को हराने के लिए मलिक काफूर ने तीसरा हमला किया। यादव वंश का अंतिम शासक हरपालदेव (1318) था। मुहम्मद तुगलक ने 1326-27 में दिल्ली से अपनी राजधानी देवगिरि में स्थानान्तरित की। इस स्थानान्तरण से हजारों परिवार उत्तर से दक्षिण की ओर आए। इनमें से बहुत से यहीं बस गए। अलाउद्दीन और मलिक काफूर की सेना में तुर्क और अफगान सैनिक ही नहीं बल्कि हजारों हिन्दुस्तानी सैनिक भी रहे होंगे। मलिक काफूर दक्षिण में सुदूर मदुरै तक पहुंचा और उसके अनेक साथी दक्षिण में राज्य चलाने के लिए या अन्यान्य कारणों से यहीं बस गए लेकिन दक्खिनी हिन्दी व उर्दू को रचने में सूफी साधकों और कुतुबशाही शासकों तथा दक्षिण में बसे हुए हरियाणवी, राजस्थानी व उत्तर भारतीय परिवारों का भी कम योगदान नहीं रहा है।

यह स्वीकृत तथ्य है कि दक्खिनी हिन्दी का साहित्य दक्षिण के गुलबर्गा, बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर तथा औरंगाबाद के क्षेत्र में विभिन्न सूफी साधकों, कवियों, सामन्तों, राजाओं एवं साहित्यानुरागी जनता के समवेत प्रयासों से पनपा है। विवेचन एवं उपलब्ध स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि चालुक्य, राष्ट्रकूट और आसफजाही शासन ने दक्खिनी के विकास और प्रसार में निरन्तर योगदान दिया है।

इतिहास साक्षी है कि गुलबर्गा में 1347 में हसन बहमनी राज गद्दी के लिए मनोनीत हुआ। बहमनी शासन लगभग 150 वर्षों तक सम्पूर्ण दक्षिण का पर्याय माना जाता रहा। 1489 के आसपास बहमनी राज्य टूट गया और पांच राज्यों की नींव पड़ी। बरार में फतहउल्ला इनादशाह ने इमामशाही शासन का श्रीगणेश किया, जो पूर्व काल में कन्नड भाषी हिन्दू था। 1574 में इमामशाही राज्य समाप्त हुआ और बरार राज्य अहमनगर में विलीन हो गया। बहमनी नरेशों के समय में निज़ाम उल मुल्क बहरी दक्खिनी मुसलमानों का नेता था। उसने 1489 में अहमदनगर में स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और शाहजहां के काल (18 जून 1633) में इस राज्य की समाप्ति हुई।

बीजापुर में यूसुफ आदिल (1489-1511) ने आदिल शाही शासन की नींव डाली। औरंगजेब के समय सिकन्दर (1672-1686) की पराजय के साथ आदिल शाही सल्तनत समाप्त हुई। गोलकुण्डा के सुल्तान कुली कुतुबशाह (1512-1543) ने कुतुबशाही वंश की स्थापना की। औरंगजेब ने इस वंश के अन्तिम शासक अबुल हसन तानाशाह (1672-1687)को परास्त कर इस वंश की समाप्ति कर दी। इसके बाद दक्खिन में बहुत समय तक मराठों और मुगलों का संघर्ष चलता रहा। औरंगजेब के बाद मुगलों का सूबेदार आसफ़जाह दक्खिन आया और शीघ्र ही स्वतंत्र शासक बन गया। कुछ समय बाद दक्खिन में फ्रांसीसी एवं पुर्तगाली तथा अंग्रेजों में प्रतिद्वन्द्विता शुरू हुई। अनेक शक्तियां सामने आईं। जिनमें पेशवा और हैदर अली व टीपू सुल्तान प्रमुख हैं।

अवधी, राजस्थानी और ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप ने दक्खिनी को अत्यधिक प्रभावित किया है। बीजापुर के आदिलशाह ने यहां 'ब्रजभाषा' में 'नवरसनामा' लिखा है। दक्खिन के मूल निवासियों व मुस्लिम लेखकों पर फारसी, ब्रजभाषा, अवधी व राजस्थानी के शब्दों का प्रभाव अधिक पाया जाता है। वजही का 'सबरस' इस बारे में सटीक उदाहरण बन सकता है।

वर्तमान में दक्खिनी के दो रूप हमारे-सामने आते हैं। एक साहित्यिक रूप और दूसरा घरेलू बोलचाल का रूप। औरंगाबाद देवगिरि

की भाषा में मराठी के शब्दों, मुहावरों का प्रभाव अधिक है जो गुलबर्गा बीजापुर की दक्खिनी, कन्नड भाषा से अत्यधिक प्रभावित है। साहित्यिक दृष्टि से गोलकुण्डा और बीजापुर की शैली अधिक प्रयुक्त हुई है। वैसे अब भी मैसूर, बैंगलोर, रायचूर, बेलगांव के मुस्लिम समाज और कोंकण-गोवा की दक्खिनी पर कन्नड (पुरानी कानडी भाषा) और कोंकणी भाषा का प्रभाव अधिक है।

दक्खिन के मूल निवासियों ने अपनी प्रादेशिक भाषा तेलुगु, मराठी और कन्नड के साथ-साथ दक्खिनी के बोलचाल और साहित्यिक रूपों को अपनाया है। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने 'दक्खिनी का गद्य और पद्य तथा दक्खिनी-साहित्य का इतिहास' में दक्खिनी के प्राचीन उद्धरणों में नामदेव, जनाबाई, गेंदाबाई, एकनाथ, तुकाराम व केशव स्वामी की रचनाएं उधृत की हैं। यह बात और है कि दक्खिनी के मुस्लिम और हिन्दू कवियों को फारसी का ज्ञानात्मक परिचय रहा होगा पर फारसी भाषा में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य-कम लोगों में थी। केवल अमीर खुसरो ही भारत में जन्मा एकमात्र ऐसा कवि है जिसकी तुलना फारसी के श्रेष्ठ कवियों के साथ की जाती है। उनका ''खालिकबारी'' ग्रंथ अरबी, फारसी और कदीम उर्दू-हिन्दी का महत्वपूर्ण कोश माना जाता है जो अपने आंशिक रूप में उपलब्ध है।

दक्खिनी भाषा के लिए हिन्दवी भाखा आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है लेकिन दक्खिनी के कवियों और लेखकों को उस भाषा के लिए दक्खिनी हिन्दी नाम ही अधिक ग्राह्य रहा है। मीरांजी शम्शुल इशाक ने इसके लिए हिन्दी तथा 'भाका' दोनों नाम का प्रयोग किया है।

''हे अरबी बोल केरे। और फारसी भौतेरे।
ये हिन्दी बोलूं सब। उन अर्तो के सबन।
ये भाका भल सो बोले। पन उसका भाव न खोले।
ये गुरुमुख पंद पाया। तो ऐसे बोल चलाया।

संभवत मुल्लावजही ने कुतुबमुश्तरी ग्रंथ में सबसे पहले इस भाषा के लिए 'दखनी' शब्द का प्रयोग किया, यथा -

दखन में जो दखनी मिठी बात का
अदा नहीं किया कोई उस घात का।

सनती ने भी 'किस्सा बेनजीर' पुस्तक में 'दखनी' शब्द का प्रयोग किया है। सनती का कार्यकाल 1685 से 1714 ईसवी के आसपास का आंका गया है। उन्होंने दक्खनी जबान की अदायगी को कलात्मक रूप में पेश किया है -

के दखनी जवां सू इसे बोलना
जो सीपी ते मोती रमन रोलना।

'युसुफ जुलेखा' के रचनाकार हाशमी ने भी 1747 ईसवी के आसपास अपनी भाषा के लिए 'दखनी' का प्रयोग किया है -

'तेरे शैर का जग में दखनी है नाऊँ
न को भौत कर दुसरी बोली मिलाऊँ।'

आगे चलकर उत्तर भारत के कुछ कवियों ने 'दक्खिनी' शब्द का प्रयोग किया है। ये लोग दक्खिनी और हिन्दी का अंतर जानते थे। यथा -

ना कुछ अरबी इलम पछाना
न हीं फारसी कुछ जाना
ना कुछ दक्खिनी बोली आई
ना कुछ विद्या हिन्दी पाई।

दक्खिनी ही नहीं उस भाषा के लिए भी हिन्दी शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी के अंत तक होता रहा जो इस समय उर्दू नाम से संबोधित होती है। प्रमाणभूत व्यक्तियों में संभवत: अंतिम बार गालिब और सर सैय्यद ने इसे हिन्दी के नाम से पुकारा है। डाक्टर मसूद हुसैन खां ने कहा है कि कुछ संज्ञाओं की विभिन्नता तथा उच्चारण भेद के अतिरिक्त दक्खिनी दिल्ली के मुस्लिम शासकों के युग की प्राचीन उर्दू के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

हिन्दी और दक्खिनी की पृथकता व मेल के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट अभिमत है कि इन दक्खिनी लेखकों ने विकासशील भाषा में लिखा है। इनकी साहित्यिक परम्परा भी एक सी है। ये हिल्दल्मानी (हिन्दू-मुसलमानी) संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। ये सब (दक्खिनी के कवि) उर्दू ए कदीम के शायर हैं।फिर 1800 ईसवी तक दक्खिनी के साहित्यिक क्षेत्रों में नवीन उर्दू ने प्राचीन उर्दू को पूर्णतया परास्त कर दिया। अब पुरानी उर्दू बनाम दक्खिनी हिन्दी आसफिया राज्य (विलन हैदराबाद राज्य) में केवल बोलचाल एवं हास्य-व्यंग्य 'जिन्द दलान' मुशायरों की भाषा है जो सामान्यत: आम तबकों और शाही-विवाह के गीतों की ज़बान है। दक्खिनी बोली अब भी बीजापुर, रायचूर, गुलबर्गा, मैसूर (कर्नाटक) नांदेड, लातूर, औरंगाबाद, बीड (महाराष्ट्र) व वास्को, पंजिम, मापसा (गोवा) के आम मुसलमानों और हिन्दू बाजारों में प्रचलित भाषा है।

वजही ने 1637 में 'सबरस' लिखी थी लेकिन उस समय दिल्ली में उर्दू का प्रचलन नहीं था। दिल्ली में उर्दू का प्रचलन 1647 ईसवी में उर्दू ए मुअल्ला (उर्दू बाजार या छावनी) का इलाका बसने के बाद हुआ है। कहना न होगा कि उर्दू ज़बान शुरुआत में दिल्ली की साधारण जनता की भाषा न होकर दिल्ली के कुछ परिवारों तक ही सीमित थी।

दक्खिनी उर्दू या दक्खिनी हिन्दी ने सामान्य जनता को इस्लामी धर्मशास्त्र से परिचित कराया हो, यह वस्तुपरक सत्य नहीं है। कारण दक्खिनी उर्दू-हिन्दी की ऐसी असंख्य कृतियां उपलब्ध हैं, जो किसी एक सम्प्रदाय विशेष से संबंधित नहीं है। 'चन्दन-महियार' दक्खिनी की श्रेष्ठ कृति मानी जाती है, जो उत्तर भारत के 'चन्दा-लोरिकायन' कृति का स्मरण करा देती है। 'सबरस' और 'कुतुब मुश्तरी' दक्खिनी भारत की गंगा जमुनी संस्कृति की पहचान कराती हैं।

स्वयं कुली कुतुबशाह ने दक्खिनी के साथ-साथ तेलुगु भाषा में गजलें लिखी हैं। उनकी रचनाओं में हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं का जिक्र भी पाया जाता है। दक्खिनी का, कदीम उर्दू-हिन्दी का पहला दीवान कुली कुतुबशाह ने ही लिखा था। उर्दू में दक्खिनी की मसनवी से बेहतर मसनवी नहीं लिखी गई है।

दक्खिनी की अधिकांश कृतियां सार्वदेशिक और शाश्वत प्रतीत हो सकती हैं। 'सबरस', 'कुतुबमुश्तरी', 'युसुफ जुलेखा', 'नौसरहार', 'सैफुल मुल्क बही उज्जमाल' और 'मन-समझा वन' जैसी शाश्वत और सार्वदेशिक रचनाओं के अभाव से किसी भाषा का साहित्य गौरवान्वित नहीं हो सकता। यह सच है कि दक्खिनी साहित्य का एक अंश इस्लामी आस्थाओं से संबंध रखता है। इतना सब होते हुए दक्खिनी भाषा पूर्णत: भारतीय भाषा है, उसके साहित्य का अधिकांश भाग भारतीय भाषा-प्रयोगों का है।

दक्खिनी का 1300 ई. से 1600 ई. तक का साहित्य निर्गुण भक्ति व सूफी अवधारणाओं से अनुप्रेरित साहित्य माना जाएगा, जो गोरखनाथ परम्परा, महानुभाव पंथ, वारकरी सम्प्रदाय, ज्ञानेश्वर, नामदेव और ख्वाजा बन्दानवाज से अनुप्रेरित है। नामदेव ने कहा भी है -

"सांप कुछ छोडे बिल नहीं छोडे
उदक पाहे जैसे नक ध्यान मांडे।
काहे का कीजे ध्यान जपता
जब ते सुध नहीं अपना।"

नामदेव की परम्परा में उनकी बेटी गोदाबाई ने मराठी और हिन्दी भाषा में अभंग लिखे हैं। गोदाबाई की भाषा में उत्तर भारत की प्रचलित हिन्दी भाषा का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। बादशाह के आग्रह पर नामदेव भगवान से चमत्कार दिखलाने की प्रार्थना करते हैं। यथा -

"ये तो पापी चांडाल। इस्ने किया बुरा हाल।
मेरे अबरू का काल। तुम गोपाल लाल जल्दी आव।"

संत एकनाथ को हिन्दी लोकगीतों का पर्याप्त ज्ञान था। इसलिए फकीरों की जनप्रिय शैली में लिखा है -

"अल्ला रखेगा वैसा भी रहना।
मौला रखेगा वैसा भी रहना।
कोई दिन सिर पर छतर उड़ावे।
कोई दिन सिर पर घड़ा चढ़ावे।
कोई दिन शक्कर दूध मलीदा।
कोई दिन अल्ला मांगता गया।
कोई दिन सेवक हाथ जोड़े खड़े।
कोई दिन नजीक न आवे छेडे।"

संत एकनाथ ने सपेरों-गाडुरी की भाषा में जीव और आत्मा के रूपक वाला ''हाँडी-बाग'' लिखा है, जो दक्खिनी गद्य की अनमोल कृति है और अदभुत भाषा प्रयोग की धरोहर है।

ख्वाजा बन्दा नवाज (1332-1437) ने दक्खिनी की पहली किताब ''मीराजुल आशिकी'' लिखी है। जिसमें अभिव्यक्त सूफी साधना पर विद्वानों में लम्बी बहस हुई है। ''हिदायतनामा'', ''मीराजुल आशिकी'' आदि उनकी गद्य रचनाएं उपलब्ध हुई हैं।

मीरांजी शम्शुल की 'सबरस' गद्य रचना है। 'शरह मरगुलुल कुलब' नामक पुस्तक के दस अध्यायों में उन्होंने सूफी साधना की जटिल प्रक्रिया का विवेचन गद्य रूप में किया है। 'खुशनामा' नामक कृति में मीरांजी बतलाते हैं कि साधना के आरम्भ में साधक को भटकना पड़ता है। तब वह अनन्य भाव से ईश्वर को याद करता है। यथा -

"अब न छिपूं, अब ना डरूं तो कहां लग डरूं
हमें गरीब निभाये तेरी आस में आसा धरूं।
माता से बालक ये रूसे जाना उन्हें किधर
आप जिस मारग लासी मीरा मैं जाऊं किधर
तू रहमान रही मां मेरा मेहर मुहब्बत भरियां
मैं तो बांदी बिरदा तेरे तरं मुझ दांतो धरियो।"

दक्खिनी के रचनाकारों के सामने ईरान और भारतीय भाषा-संस्कृति की विशाल परम्परा थी। यह परम्परा अपनी विविधता में प्रेम और वैराग्य, आध्यात्मिकता और वासना, विरह और मिलन, विलाप और सुख, उपदेश और कर्मठपन की रोचक कथाएं अपनाए हुए थी। कतिपय आख्यानक काव्यों में प्रेम के बहाने उपदेश और कुछ आख्यानों में प्रेम की कथा कही गई है। कतिपय आख्यानक आश्रयदाता अथवा समकालीन किसी वीर, प्रेमी तथा दानवीर की कथा पर आधारित है।

दक्खिनी के सभी आख्यानक प्रेम पर आधारित नहीं है। 'कदमराव व पदमराव' तथा 'फूलबन' में जैन परम्परा की एक कहानी अनेक परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत की गई है। 'कुतुब मुश्तरी' का नायक कवि का आश्रयदाता है। इस काव्य का नायक ऐतिहासिक कवि है किन्तु पूरी कथा काल्पनिक है। 'गुलशने इश्क मैना सतवन्ती' और 'तूतीनामा' पूरी तरह से भारतीय आख्यानों पर आधारित हैं। 'युसुफ जुलेखा' और 'लैला मजनू' फारसी के अनेक महाकाव्यों के प्रभाव को प्रकट करते हैं। 'अलीनामा' आश्रयदाता पर लिखा गया और बहुत कुछ प्रामाणिक ऐतिहासिक काव्य है। सारांश यह है कि दक्खिनी के आख्यानक कवियों ने ईरान और भारत की साहित्यिक परम्पराओं से लाभ उठाया है।

'नौसरहार' में कर्बला के युद्ध में पानी मिलने के दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

"नीर न कहीं आस न पास
ननदो बड़ी लगी प्यास
जितना खोदे मार कुदाल
पानी गया सोप पाताल।"

हुसैन की पत्नी जैनब के सौन्दर्य वर्णन में अशरफ ने अपनी कलात्मक अभिरुचि और देशज प्रयोगों का इजहार किया है –

जैनब है उसका नाम। नयन सलोने जो बादाम।
माथे जानो चांद ललाट। पलखां जानो काठी कमल।
दांत बतीसी तैसी जाना जैसी हीरे केरी खान
सब्ज बाहां केले खांब। जोबन बाली आना आब।

अशरफ ने 'नौसरहार' में नख-शिख वर्णन की भारतीय प्रणाली स्वीकार की है। भारतीय साहित्य की रूढ़ उपमाएं शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन के लिए प्रयुक्त की हैं। कान के लिए कमल, दांतों के लिए हीरक, भुजाओं के लिए केले (कदली स्तम्भ) और स्तनों के लिए आम की उपमा भारतीय साहित्य की पारम्परिक श्रृंगारिक उपमाएं हैं। वैसे नयनों के लिए बादाम की उपमा रूढ़ि से हटकर है।

ऐतिहासिक कथात्मक काव्य के अन्तर्गत कवि अब्दुल ने 'इब्राहीमनामा' में बीजापुर शहर का रोचक वर्णन किया है यथा –

"न उस शहर में नयन आंसू झडे।
सो बिन मेघ धारां न होर कुछ पडे।
न उस शहर में कोई दर्दे-हुंकार।
सो बिन पाए शहनाई ना कोई पुकार।
न पडता शहर में कोई बांध्या नजर
सो बिन मोतियां होर फूलों की लड।"

नुसरती की 'गुलशने इश्क', 'अलीनामा' और 'तारीखे' प्रसिद्ध कृतियां रही हैं। उन्होंने 'अलीनामा' में दक्खिन में बसे हुए यारों की बेवफाई पर जो राय व्यक्त की है, क्या वह आजकल के मित्रों पर लागू नहीं होती? कतिपय अंश दृष्टव्य हैं –

"यारा दकन किस सूं वफाई त करै
होये तो बुलन्द बख्त भलाई न करै
खूबी तो मैं उनकी किया कतै नजर
अकार है गर फिर से जुदाई न करे।"

हालांकि शिवाजी बीजापुर शासन के प्रबल विरोधी थे। पर शाइस्ता खां से लड़ते समय उन्होंने जो वीरता प्रदर्शित की है, उसका जिक्र नुसरती ने 'अलीनामा' में निम्न रूप से किया है –

"के शाइस्ताखां तब सहेल्यां में था
करनहार सुख-खुश रंगील्यां में था
जो थे घर के चौधए निगह बांकिते
हरेक ठार अंगे बनके दरबां किते
सोता था तो तिस नींद जाने उचट
उछाया खडग आप अत मूं पै सर
न उसकू मुकाबिल पै आने दिया
न हतियार पर हाथ आने दिया
खपाखप किते जल्द वारां पै वार
उगे घाव पर घाव सब तन मंधार।"

प्रेमाख्यान काव्य के अन्तर्गत वजही की 'कुतबमुश्तरी' और 'सबरस' का महत्व भी कम नहीं आंका जाएगा। सत्रहवीं शताब्दी के अब्दुल्ला कुतुबशाह के समय (1627-1670) वजही और गवासी दोनों उसके चहेते शायर थे। 'कुतुबमुश्तरी' में जिक्र भी आया है –

"इस दखन के शाइरां में तुम शंहशाह के नजीक
है गवासी दोर वजही साइये हाजिर जवाना।"

'कुतुबमुश्तरी' दक्खिनी का वह प्रथम प्रेमाख्यान है जिसमें वजही ने रीतिकालीन काव्य परम्परा के अन्तर्गत सत्रहवीं शताब्दी में अपने आश्रयदाता मुहम्मद कुली कुतुबशाह और उसकी प्रेमिका हैदरमहल को युगल पात्र के रूप में वर्णित किया है। इसमें हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वयकर्ता-सूफी तत्वों का प्राधान्य है

"न मस्जिद ना बुतखाने का काम है
न परवाने कू शमअ सूं काम है
न बूझे भली होर बुरी ठार कू
शमाअ हुई तो बस जलनहार कू।"

'गवासी' की रचनाएं 'सैफुल मुलुक बदी उज्जमाल' (1631 से पूर्व) 'तूतीनामा' और 'मैना सतवन्ती' हैं। उनकी रचनाओं में आम जीवन का दु:ख दर्द व आत्मविश्लेषण पाया जाता है। शीत ऋतु जहां दौलतमन्द को सुखकर होती है, वहीं निम्न वर्ग को तकलीफदेह होती है -

"मैं थंड का मिजाज जो पूछया तो यूं कही
दौलतमंदा कू गर्म हूं जेल्यां के नाल थंड।"

'गवासी' ने ईश्वर के सामने अपनी आर्थिक दुर्दशा और सामाजिक मित्रों की अविश्वसनीयता का हाल भी बयान किया है -

"करूं जिस सूं यारी तो अगयार होय
चलू मोर हो तो मैं तो वो मार होय
वफा सू रखूं जिसके पावां पो सिर
सो मेरे च सर पर रखे पांव फिर।"

दक्खिनी भाषा वास्तव में कदीम हिन्दी व उर्दू है, यानी मध्ययुगीन दौर की प्रारम्भिक हिन्दी-उर्दू भाषा, जो विभिन्न बोलियों और भाषाओं के समवेत प्रभाव से सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश (निजाम स्टेट - आंध्र प्रदेश, कर्नाटक के सीमा प्रान्त, मध्य महाराष्ट्र, तंजावुर, केरल एवं कोंकण-गोवा प्रांत) में पनपी है। उपर्युक्त पद में 'अगयार' का अर्थ शत्रु और 'मार' के मायने सर्प है। उपर्युक्त पद्यांश में जो दर्द कवि का है वह वर्तमान दौर में आज की आम भारतीय जनता का भी हो सकता है।

दक्खिनी हिन्दी साहित्य को भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी और ब्रज भाषा की तुलना या समकक्षता में देखने का प्रयास न तो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर में रामचन्द्र शुक्ल ने किया है और न ही इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर बच्चन सिंह ने। यद्यपि दोनों की सृजनात्मकता में सात दशक का अन्तराल है। तुलसी, सूर, जायसी, बिहारी को 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में क्लासिक कवि माना जाता है पर 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में भी बच्चन सिंह ने वजही, गवासी, मुकिमी, नुसरती और वली औरंगाबादी के कार्य को समकक्ष या समानान्तर रूप से देखने की पेशकश की है। यद्यपि राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा और बाबूराम सक्सेना ने पचास वर्ष पूर्व दक्खिनी हिन्दी को हिन्दी साहित्य के पुनर्लेखन में समाहृत भाव से देखने की पेशकश की है।

मध्ययुगीन काव्य और रीतिकालीन दरबारी साहित्य के अनुरूप गवासी ने 'सैफुल बदीउज्जमा' कृति में बदी उज्जमाल के नख-शिख सौन्दर्य का वर्णन किया है।

देख उसके नयन बन के नर्गिस तमाम
दो बेहोश लड़ते थे खिल-खिल तमाम
दीवाने हो झाडां के पातां तमाम
दुआ सूं उचाये ते हातां तमाम।

मीरां हाशमी की 'युसुफ जुलेखा' दक्खिन में काफी चर्चित रही है। हाशमी जनकवि माने गए हैं। तैमूस ने जुलेखा को क्या बिदा किया कि संसार भर की बेटियां उसके सामने आ गई, बाप के दिल का दर्द निम्न पंक्तियों में नुमायां हुआ है -

"आया बाप मिलने कू बेटी के कन
जो देखी उने सो आ पड़ी चरण
आखां में ल्या पानी सीने सूं ला सिर
बिदा कर दिया उसके तई शह ने फिर
लगी माई रोने सीने सूं पकड़
कहे क्यू न्हना जीव चल्या है बिछड़
व क्या खूब ग्यानियां ने बोले दोहरा
बिधना बुरा है बिछडना बुरा।"

वली औरंगाबादी का दीवान गालिब के दीवान से पहले ही आम जनता में नुमायां हुआ। वली औरंगाबादी ने अपने समय में दिल्ली की यात्रा की थी और वहां के मुशायरों में शिरकत की थी। वली औरंगाबादी ने लिखा भी है कि "है मेरे रेख्तों का दीवाना दखन तमाम।" गालिब ने भी रेख्ता के बारे में 'मीर' को उस्ताद कबूल किया था, यह शेर आम जनता में भी चर्चित है -

"रेख्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब
अगले जमाने में कोई मीर भी था।"

वली औरंगाबादी ने अपनी भाषा को 'दक्खनी' कहा है और उसके शीरी होने की कामना भी की है -

"दक्खनी जबान में शेर सब कहते हैं ऐ वली
लेकिन नहीं बोला कोइ यक शेर खुश शीरी नमन।

दक्खिनी के कवियों में साम्प्रदायिक भेद-भाव कभी नहीं रहा। नजीर अकबराबादी को उत्तर भारत में श्रेय दिया जाता है कि रसखान की परम्परा में उन्होंने कृष्ण के गीत व शेर लिखे हैं। पर दक्खन के शाह मियां तुराब भी अल्लाह और निरंजन, कृष्ण और अली में साम्यता देख लेते हैं, जो कबीर की निर्गुण परम्परा वाला विकास भी माना जा सकता है –

"किशन जिसकू कहते अली नाम हैगा
अली नाम लेने से आराम हैगा
किशन भोग लेकिन अभोगी रहेगा
वो जोगियों में मिलकर अजोगी रहेगा।"

'जइफी' कृत मसनवी 'नसीहते बहन' (1689) में औरतों को नसीहतें देने, समझने और पति भक्ति की भावना अपनाने पर बल दिया गया है। यथा –

"न देवे कधी मर्द को सख्त जवाब
है आतिश अगर मर्द तो होवे आब
मर्द सात हर वक्त मीठा वचन
करे होर अछे एक दिल एक मना।"

'शाह तुगब' ने इसी परम्परा की अगली कड़ी में 'मराजवी तुराब दखनी' (1840) में पतिव्रता को अन्य कई बातों की सलाहियत दी है। सुलेमान खतीव ने आम बोलचाल की दक्खिनी में कई लोकगीत लिखे हैं। इनकी 'पगडण्डी' नामक रचना में एक ग्रामीण नवयुवती की गर्वोक्ति भरी भावना को दर्शाया गया है –

"यक नवी आख सरी की चुरमुरा को शर्म से
गांव के बाजू से निकल घाट कू जाती हूं मैं।
जिनके अंगे चान-सूरज भीक के सानक है दो
ऐसे ऐसे आफताबों को उठा लाती हूं मैं।

गर्भवती स्त्री की इच्छाओं व मन:स्थिति पर दक्खिनी का लोकगीत किसी भी संवेदनशील पाठक का मन मोह लेगा। यथा –

"गाभिन का जान मांगा खटाई मिठाई
साईं खरीद लिये आप की अमराई।
पहलन पेठ लेकर आ बैठी सहेलियों में
शरम न को जाई नहीं किसता मीरियों में।
नारियल जैसा पेट हरवी जैसा बच्चा
सालू के पर्दों में रेशम जैसी जच्चा।
जच्चा मेरी मोरी नहीं खाती बोल
साईं किये जजी के जाफल॥

कृषक जीवन के गीत को जनता में अपनी पहचान बनाते देर नहीं लगती है, क्योंकि अधिकांश जनता के पूर्वज खेती-मिट्टी व बीज-पानी से जुड़े रहे हैं। सुलेमान खतीब के लोकगीत आज भी तेलंगाना और रॉयलसीमा जिलों के हिस्सों में श्रोताओं को स्मरण हैं। सुलेमान खतीब स्वातंत्रोत्तर दौर के लोक कवि रहे हैं।

ननद और भावज का प्यार और द्वेष तो लोकगीतों में काफी उभरा है। फिर दक्खिनी हिन्दी के लोकगीतों में यहां की ननदें अपनी भावज को ताना मारने में भला पीछे क्यों रहतीं। उनका भी बयान है –

"भई के घर को गई तो भावज आड़ी तेडी।
रख ले साडी चोली भाई से मिलको चली।
भई से मिलने गई तो भावज खड़ी भार।
तुझसे क्या दरकार भई मेरा सरदार।
हमन भावज रानी सबसे बड़ी सयानी।
बादल पो का पानी पचतोला से छानी।
ननदा आतै करके उडते उडते सुनी।
ऐसी है बन पड़ी, भाबी छै महिने खार चढी।
भइना आते करको भाई उठके खड़े
देखो भावज बीबी हम ननदों के मान बडे।

वर्तमान दक्खिनी के शायर सुलेमान खतीब, सरवर डण्डा, अनपढ भोन गिरी, तेजाब हुसैन, नरेन्द्र राय आदि ने व्यंग्य और दार्शनिक सोच की जमीन पर रचना प्रारम्भ का है। पर यह अब दक्खिनी भाषा साहित्य से विलग होकर केवल महाराष्ट्र, आंध्र, कनार्टक, केरल और गोवा के कुछ हिस्सों में विशेषकर मुस्लिम सम्प्रदाय में सामान्य जनता की बोली बनती जा रही है। संचार माध्यम के प्रभाव और मानक हिन्दी के प्रचलन के कारण हमारी राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मालवी और दक्खिनी भाषा एवं बोली का प्रभाव एवं प्रचलन क्षीण होता जा रहा है। संभवत यह काल परिवर्तन और भाषाई परिवर्तन का अनिवार्य अंग है।

रोहिताश्व
हिन्दी विभाग
गोवा विश्वविद्यालय

प्रखर व्यक्तित्व के धनी संत कबीर

डॉ. महीप सिंह

संत कबीर ने अपनी एक साखी में लिखा है कि संतों का लक्षण उनका निर्वैर और निष्काम होना, प्रभु प्रेम में मग्न और विषयों से विरक्त होना है –

निरवैरो निहकामता साईं सेतो नेह।
विषयाँ सू न्यारा रहे संतान को अंग एह॥

इसी भाव को चौथे गुरु, गुरु रामदास ने व्यक्त करते हुए कहा था कि जिसे श्वास-प्रश्वास में अपने हृदय से हरि का नाम विस्मृत नहीं होता, वह धन्य है, वही पूर्ण संत है –

जिना सासि गिरासि न वीसरै हरिनामा मनि मंत॥
धंनु सि सोई नानका पूरन सोई संत॥

आदि ग्रंथ में संगृहीत 15 संत कवि विभिन्न प्रदेश, विभिन्न परिवेश, विभिन्न संस्कारों, विभिन्न समय में अवतरित व्यक्ति थे, फिर भी उनमें अनेक बातों में वैचारिक और मानसिक एकता थी। इन संतों को उनकी विचारधारा के अनुसार निर्गुण और सगुण में बाँटने की प्रथा उतनी ही प्राचीन दिखती है। अधिसंख्य संतों का आग्रह परमात्मा के निर्गुण स्वरूप की ओर था। वे अवतारवाद के विरोधी थे। मूर्तिपूजा का खंडन करते थे, वर्ण व्यवस्था और जात-पात में उनका विश्वास नहीं था। सगुणवादी धारा परम्परागत वैष्णव धारा से जुड़ी हुई थी। उसके प्रस्तोता अधिकतर सनातनी ब्राह्मण थे। निर्गुण संतों में अब्राह्मणों का बाहुल्य था। उनमें अन्त्यज जातियों के ऐसे भक्त भी थे जिन्हें ब्राह्मणवादी व्यवस्था समान पूजन का अधिकार नहीं देती थी। अवतारों की मूर्तियों से सज्जित मंदिर में उनका प्रवेश निषिद्ध था। मंदिर के बाहर खड़े रहकर उसके कलश मात्र के दर्शन से ही सन्तुष्ट हो जाना ही उनकी सीमा थी।

संत कबीर का समय अत्यन्त संकट का समय था।.... चारों और गहरा अवसाद छाया हुआ था। कबीर को निराशा भरी स्थिति उद्वेलित करती थी, आक्रोश से भरती थी। एक ओर वे अपने समय के पंडों, पुरोहितों, काज़ियों, मुल्लाओं को उनके पाखंडपूर्ण चरित्र के लिए खरी-खोटी सुनाते थे, तो दूसरी ओर भविष्य में उभरने वाले किसी संभावित प्रतिरोध और संघर्ष की मनोभूमिका भी तैयार करते थे।

परमेश्वर की निर्गुण-निराकार अवधारणा उन्हें वर्ण और ऊँच-नीच की सीमाओं से मुक्त कर देती थी। सर्वव्यापी, घट-घट वाली ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उन्हें किसी मंदिर, किसी पुरोहित, किसी कर्मकांड, किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं थी। संत कबीर ने इस विभेद को अनेक स्थलों पर रेखांकित किया है –

जानसि कथ कथसि अयाना
हम निर्गुण तुम सरगुण जाना

मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन का प्रारंभ दक्षिण के द्रविड़ प्रदेश से हुआ माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि उसे उत्तर में स्वामी रामानंद लाए और संत कबीर ने उसे चतुर्दिक फैला दिया –

भगती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद
परगट किया कबीर ने सात दीप नव खंड

आदि ग्रंथ में संगृहीत 15 संतों की वाणी में सबसे अधिक रचनाएं संत कबीर की हैं – 292 पद और 249 श्लोक। इनका योग 541 है। भारतीय साहित्य में कबीर का अनन्य स्थान है। जीवन भर काशी में रहकर वे कट्टर ब्राह्मणों और मुल्लाओं से जूझते रहे और उन्हें खरी-खोटी सुनाते रहे। उस समय परम्परागत मान्यता यह थी कि काशी मोक्ष का द्वार है और उसके पास का नगर मगहर इस बात के लिए अभिशप्त है कि वहां जिसकी मृत्यु होती है वह नरक का भागी होता है। संत कबीर ने इस चुनौती को स्वीकार किया था। जीवन भर काशी में रहकर वे अंत समय में मगहर चले गए थे। आदि ग्रंथ में शामिल उनकी रचनाओं में ऐसे संकेत हैं –

अब कहु राम कवन गति मोरी।
तजीले बनारस मति भई थोरी॥
सगल-जनम शिवपुरी गवाया॥
मरती बार मगहरि उठि धाया॥

संत कबीर के सम्बन्ध में यह बहुप्रचलित चर्चा है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। लोक लाज के डर से मां ने उन्हें त्याग दिया था। उनका पालन-पोषण नीरू नाम के एक मुसलमान जुलाहे ने किया था। उनका परिवेश इस्लामी परिवेश था, इस बात का संकेत संत रविदास ने भी किया है जो काशी निवासी थे और कबीर के समकालीन थे। रविदास कहते हैं कि जिनके घर के लोग ईद-बकरीद के अवसर पर गोवध करते हैं, शेख, शहीद और पीर मानते हैं, उन्हीं के पूत ने इसके बिल्कुल विपरीत किया। इसी कारण कबीर तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गए -

जो कै ईद बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि
मानीअहि सेख, सहीद, पीरा॥
जा कै बाप वैसी करी, पूत ऐसी सरी॥
तिहू रे लोक परसिध कबीरा॥

जीवन भर काशी में रहकर वे कट्टर ब्राह्मणों और मुल्लाओं से जूझते रहे और उन्हें खरी-खोटी सुनाते रहे। उस समय परम्परागत मान्यता यह थी कि काशी मोक्ष का द्वार है और उसके पास का नगर मगहर इस बात के लिए अभिशप्त है कि वहां जिसकी मृत्यु होती है वह नरक का भागी होता है। संत कबीर ने इस चुनौती को स्वीकार किया था। जीवन भर काशी में रहकर वे अंत समय में मगहर चले गए थे।

मध्ययुगीन धर्म साधना के दो स्वरूप हमारे सम्मुख स्पष्ट से उभरते हैं। एक शास्त्रमार्गी और दूसरा लोकमार्गी। आधुनिक विद्वान आठवीं शती को भारतीय साहित्य के पूर्व की अन्तिम सीमा मानते हैं। आठवीं से अठारवीं शती तक को सामान्यतया मध्ययुग माना जाता है। इस काल के भी दो भाग हैं। आठवीं से तेरहवीं शती तक का काल पूर्व मध्य युग है और तेरहवीं से अठारहवीं शती तक का काल उत्तर मध्य युग है।

पूर्व मध्ययुग (गुप्तकाल) में हिन्दू धर्म का जो स्वरूप विकसित हुआ था उसमें पूर्ववर्ती आर्य ग्रन्थों को अकाट्य रूप से मानने की प्रवृति उत्तरोत्तर बढ़ती गई थी। वेदों को स्वत: प्रमाण मानने के आग्रह से यह बद्धमूल हो गई और वेदविरोधी सम्प्रदायों को नास्तिक और हेय माना जाने लगा। प्राय: सभी सम्प्रदायों के उपास्य देवताओं की मूर्ति कल्पित की गई और प्रत्येक देवता की शक्ति की भी कल्पना की गई। इन देवियों और देवताओं की स्तुति में मनोहर काव्य रचे गए। यह चिंतन पूरी तरह शास्त्रमार्गी चिंतन था।

बौद्ध धर्म का चिंतन प्रारम्भ से ही लोकमार्गी चिंतन था। इस काल में यह चिंतन वैदिक-पौराणिक हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी प्रतिरोधी शक्ति था। महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थों में कलियुग का बड़ा ही चिन्ताजनक और उद्वेलित करने वाला रूप चित्रित किया गया है। प्राय: प्रत्येक पुराण में इस बात पर आग्रह किया गया है कि कलियुग में लोगों का चरित्र पतित हो जाएगा। श्रुति-स्मृति में दिए गए निर्देश मिटने लगेंगे। वर्णाश्रम व्यवस्था टूटने लगेगी। शूद्र लोग संन्यास लेकर उच्च वर्णों को उपदेश देने का ढोंग रचेंगे। स्त्रियां चरित्रहीन हो जाएंगी। अनेक पुराणों में ज्यों-का-त्यों पाया जाने वाला एक श्लोक मिलता है, जिसके अनुसार कलियुग में वे लोग धर्मोपदेश करेंगे जो शठतायुक्त बुद्धि के होंगे। उनके दांत सफेद होंगे (भ-दन्त) वे जितेन्द्रिय होने का दावा करेंगे तथा मुण्डित और काषाय वस्त्र धारण करने वाले होंगे -

शुक्ल दन्ता जिताक्षाशय मुण्डा:काषायवासस:॥
शुद्ध धर्म वदिष्यन्ति शाठ्य बुद्धयोप जीविन:॥

ये सभी संकेत बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए हैं। बुद्ध ने शूद्रों को भी संन्यासी बनाकर उपदेश देने की अनुमति दी थी। बौद्ध विहारों में स्त्रियों के प्रवेश को स्वीकार किया गया था। बौद्ध भिक्षु मुण्डित होते थे, काषाय वस्त्र धारण करते थे। भदन्त, बौद्धों में अति सम्मान्नित व्यक्ति को कहा जाता था। बुद्ध ने वेदों को अपौरुषेय और अकाट्य नहीं स्वीकार किया है। वैदिक धर्मी बुद्ध-दर्शन को नास्तिक दर्शन मानते थे।

उत्तर मध्य युग में शास्त्रमार्गी और लोकमार्गी भक्ति धाराएं समानान्तर चलीं और टकराईं भी। सगुण धारा और निर्गुण धारा इनका प्रतिनिधित्व करती हैं। संत कबीर के समय निर्गुण और सगुण भक्तिधारा का टकराव बहुत मुखर हो जाता है। कबीर शास्त्र और ब्राह्मण की प्रभुता को पूरी तरह नकारते हैं। शास्त्र पढ़ने वाले पंडित को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं - पोथियों को पढ़कर कोई

पंडित नहीं हो जाता। जो प्रभु-प्रेम का एक अक्षर पढ़ लेता है, वह पंडित हो जाता है -

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोइ।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ॥

संत कबीर शास्त्र अध्ययन की अपेक्षा अपने अनुभव, जो उन्होंने लोगों के बीच रह कर प्राप्त किया था, पर अधिक बल देते हैं -

तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता आँखिन की देखी॥

किन्तु शास्त्रमार्गी सगुण कवि यह स्वीकार नहीं करते कि श्रुतियों द्वारा निर्धारित मार्ग से कोई विरत हो कर ईश्वर भक्त हो सकता है। वे शूद्रों का तत्व ज्ञानी होना स्वीकार नहीं करते। संत तुलसीदास की मान्यता थी कि श्रुतियों ने वर्ण व्यवस्था के माध्यम से सभी वर्णों के धर्म और कर्तव्य निर्धारित कर दिए हैं। उनका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। शूद्रों को ब्राह्मणों से बराबरी का दावा नहीं करना चाहिए।

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम ते कछु घाटि॥
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहि डांटि॥

एक स्थान पर तुलसीदास ने लिखा है -

सूद्र करहि जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहि पुराना॥

कबीर- लघुचित्र (साभार-राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

सूद्र द्विजन उपदेसहि ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेई कुदाना॥

संत रविदास ने अपने एक पद में कहा था कि यदि कोई ब्राह्मण गुणहीन हो तो वह पूज्य नहीं है। यदि कोई चांडाल ज्ञान में प्रवीण हो तो उसके पांव पखारने चाहिए।

रैदास ब्राह्मण मत पूजिए जो होवे गुनहीन॥
पांव पूज चण्डाल के जो हो ज्ञान प्रवीन॥

इसके उत्तर में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि श्रुतिनीति तो यह है कि सबसे पहले ब्राह्मण के पैर पखारने चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण शील-गुण हीन हो तो भी वह पूज्य है। उसके सम्मुख यदि कोई शूद्र गुण-ज्ञान में प्रवीण हो तो वह तजे जाने योग्य है –

प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। निज-निज करम निरत श्रुति नीती॥
पूजहिं विप्र सील गुण हीना। तजयि सूद्र गुण ज्ञान प्रवीना॥

किन्तु निर्गुण संतों में बहुतायत उनकी थी जिन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा जाता था। नामदेव छीपा थे, सैण नाई थे, सदना कसाई थे, रविदास चमार थे, धन्ना जाट थे और कबीर जुलाहा थे। गुरु नानक तथा उनके परवर्ती गुरु सवर्ण समाज के खत्री थे किन्तु उनकी प्रतिबद्धता उन संतों के साथ थी, जिन्हें शास्त्रमार्गी सगुण धारा स्वीकार नहीं करती थी।

मध्ययुगीन संतों में कबीर का अनन्य स्थान है। अपने जीवनकाल और उसके पश्चात् अनेक शताब्दियों तक वे भक्ति-संसार पर पूरी तरह छाए रहे। समकालीन संतों में उनकी असीम प्रशंसा भी हुई और एक पक्ष द्वारा उनकी भरसक निंदा भी हुई। स्तुति-निंदा के मध्य किसी की चिंता न करते हुए एक फक्कड़ संत की भांति वे बीच बाजार में अपनी लुकाटी लिए उद्घोष करते रहे –

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाटी हाथ॥
जो घर जाले आपना सो चले हमारे साथ॥

संत कबीर का समय अत्यन्त संकट का समय था। तुर्की और पठानों का शासन स्थापित हुए चार सदियों से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। चारों और गहरा अवसाद छाया हुआ था। स्वामी वल्लभाचार्य ने इस अवसाद को व्यक्त करते हुए कहा था : 'देश मलेच्छक्रान्त है, गंगादि तीर्थ उनके द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, आशंका और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र, कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।' किन्तु संत कबीर को ऐसे विकल्पहीन समर्पण में ही समस्या का पूर्ण निदान नहीं दिखाई दिया था। निराशा भरी स्थिति उन्हें उद्वेलित करती थी, आक्रोश से भरती थी। एक ओर वे अपने समय के पंडों, पुरोहितों, काज़ियों, मुल्लाओं को उनके पाखंडपूर्ण चरित्र के लिए खरी-खोटी सुनाते थे, तो दूसरी ओर भविष्य में उभरने वाले किसी संभावित प्रतिरोध और संघर्ष की मनोभूमिका भी तैयार करते थे। संत कबीर के जीवन पर चर्चा करते हुए उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष अनदेखा-सा रह जाता है। कबीर का एक पद है –

गगन दमामा बाजियों, पर्‌यो निताने घाउ।
खेत जो मांडियों सूरमा, अब जूझन को दाउ॥
सूरा सो पहचानिए, जु लरै दीन के हेत।
पुरजा-पुरजा कटि मरै, कब्हूं न छाड़े खेत॥

इस पद की शब्दावली पूरी तरह वीर रस से भरपूर दिखती है और भक्ति काल के अन्य संतों-भक्तों से बहुत भिन्न दिखाई देती है। यह शब्दावली किसी भी सूरमा को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह दीन (गरीब और पीड़ित) जनों की रक्षा के लिए युद्ध करे। इस कार्य में चाहे उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, किन्तु वह रणभूमि त्यागने का भाव अपने मन में न आने दे।

आकाश का नगाड़ों की ध्वनि में गुंजारित होना, शस्त्र-द्वारा ठीक निशाने पर घाव लगना। सूरमा द्वारा रणभूमि को खेत की भांति गोड़ना और उसमें जूझने का अवसर ढूंढ़ना, दीन-दुनियाँ के लिए सूरमा बनकर लड़ना और टुकड़े-टुकड़े होकर मर जाना किंतु रणभूमि को न छोड़ने के निश्चय पर दृढ़ रहना – ऐसी आकांक्षा है जो भक्ति काल की संपूर्ण मनोभूमिका से सर्वथा अलग दिखाई देती है। कबीर का व्यक्तित्व बहुत विरल था। उनके समकालीन संत उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। अपनी भक्ति की अनन्तता पर उन्हें पूरा विश्वास था। इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने कहा था कि जीवन रूपी सफेद चादर ऋषियों-मुनियों ने भी ओढ़ी, किन्तु वे भी उसे निष्कलुष नहीं रख सके थे, किंतु कबीर दास ने उस पर कोई दाग नहीं लगने दिया। उन्होंने उसे पवित्र रख कर प्रभु को वापस कर दिया –

सो चादर सुन नर मुनि ओढ़ी।
ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी।
ज्यों का त्यों धर दीनी चदरिया॥

डॉ. महीप सिंह
एच-108, शिवाजी पार्क
नई दिल्ली-110026

भारतवर्ष का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और उर्दू

दरख़्शाँ ताजवर 'क़ायनात'

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी देश को गुलामी के बन्धन से मुक्ति दिलाने में उस देश की भाषा और वहाँ के साहित्य का बहुत बड़ा योगदान होता है। भारतवर्ष के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का यदि अवलोकन किया जाए तो यह देखकर सुखद अनुभूति होती है कि यहाँ की विभिन्न भाषाओं के कवियों एवं साहित्यकारों ने कलम से तलवार का काम लेकर देशवासियों को यह प्रेरणा दिलाई कि अंग्रेजों को, जिन्होंने जबरदस्ती उनके देश पर कब्जा करके उन्हें परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ रखा है, देश से निकाल बाहर करें और अपनी मातृभूमि को विदेशी आधिपत्य से मुक्ति दिलाने के लिए किसी भी प्रकार की आहुति देने में संकोच न करें।

जिस समय देश में स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन चल रहा था, उस समय भारतीय भाषाओं में उर्दू एक ऐसी भाषा थी जो देश के कोने-कोने में समझी और बोली जाती थी। उर्दू के शायरों और साहित्यकारों ने भी देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझा और उसका निर्वाह भी किया। यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उर्दू ने पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास को अपने आप में समाहित कर लिया है। यदि 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में उर्दू भाषा के योगदान को ही लिपिबद्ध किया जाए तो केवल यही अवलोकन कई वृहद ग्रन्थों पर आधारित होगा।

उर्दू ने पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास को अपने आप में समाहित कर लिया है। यदि 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में उर्दू भाषा के योगदान को ही लिपिबद्ध किया जाए तो केवल यही अवलोकन कई वृहद ग्रन्थों पर आधारित होगा।

उर्दू के कवि और साहित्यकार देशवासियों के हृदय में अंग्रेजी के प्रति विरोध की भावना भड़काने की चेष्टा उसी समय से कर रहे थे जब से अंग्रेज व्यापार के बहाने इस देश पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास कर रहे थे। आसिफुद्दौला की मृत्यु के बाद अंग्रेज किस प्रकार अपने अधिकारों को विस्तृत करने लगे इस तथ्य से देशवासियों को अवगत कराते हुए अकबर अली खाँ 'अकबर' ने अपनी मसनवी 'सारा मुल्क तहोबाला' में कहा:-

बस इसमें असिफुददौला ने रहलत
जूँ ही की वूँ ही सर पर आई आफत
तहो बाला हुआ वह मुल्क सारा
दख़ील इसमें हुआ आकर नसारा
यह वीरा आह हिन्दोस्तां हुआ सब
जहाँ सारा फिरगिस्तान हुआ सब

उस समय देश की स्थिति क्या थी इस पर शाह कमालुद्दीन 'कमाल' ने इस प्रकार प्रकाश डाला :-

वही यह शहर है और वही यह हिन्दोस्तां
कि जिसको रश्के जिना जानते हैं सब इन्साँ
फिरंगियों की सो कसरत से हो सब वीराँ
नजर पड़े हैं बस अब सूरते फिरगिस्ताँ
नहीं सवार या सिवाए तुर्क सवार
जहाँ कि नौबतो शहनाई झांझ की थी सदा
फिरंगियों का है उस जा पे टमटम अब बजता
इसी से समझो रहा सल्तनत का क्या रुतबा
हो जब कि महल सराहो में गोरों का पहरा
न शाह है न वजीर अब फिरंगी है मुख्तार
न होवे देख के क्यों कर दिल अपना अब मग़मूम
हो जब कि जाए हुआ आज आश्यानाएं बूम
वह चहचहे तो बस इस मुल्क में हैं सब मादूम
फिरंगियों के जो हाकिम थे हो गये महकूम
तो हम गरीबों का फिर क्या है या कतारो-शुमार।

उर्दू शायरों को यह दुख था कि उनकी मातृभूमि विदेशियों के कब्जे में है और फिरंगी दोनों हाथों से उनके देश की धन सम्पति लूट कर उन्हें कंगाल बना रहे हैं। उनकी रचनाओं में अंग्रेजों के आधिपत्य से मुक्ति पाने की जो छटपटाहट है उसे भलीभाँति महसूस किया जा सकता है–

है दुश्मन दकन वह कुलह पोश जिसने फ़ैज
गारत किया है तख्ए हिन्दोस्तान को
(शमसुद्दीन "फैज" हैदराबादी)
हिदोस्तां की दौलतों–हशमत जो कुछ कि थी
ज़ालिम फिरंगियों ने बतदबीर खींच ली
("मुसहफी")
दिल मुल्क अंग्रेजी में जीने से तँग है
रहना बदन में रूह को कैदे फिरंग है
("नासिख")
हवाए दहर अगर इंसाफ पर आये तो सुन लेना
गुलो बुलबुल चमन में होंगे बाहर बागबाँ होगा
'("अतिश")

अंग्रेजों के विरुद्ध पकता हुआ नफ़रत का लावा 1857 में ज्वालामुखी बनकर फूटा तो उर्दू का शायर मूकदर्शक नहीं बना रहा। उसने अंग्रेजों

उर्दू को यह श्रेय भी प्राप्त है कि इसी भाषा में भारत का पहला कौमी तराना लिखा गया जिसे नाना साहब के सहयोगी अज़ीमुल्ला खाँ ने लिखा था। यह तराना ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में सुरक्षित है। यह तराना उस समय के अखबार 'पयामे आजादी' में प्रकाशित हुआ

के विरुद्ध अपनी भावनाएं खुलकर व्यक्त कीं, जिसकी उसे सजा भी मिली, किसी ने अंग्रेजों के अत्याचार सहे तो कैद की काल कोठरी किसी का ठिकाना बनी। बहुत बड़ी संख्या ऐसे शायरों की भी थी जिन्हें इस हंगामें में अपनी जान तक से हाथ धोना पड़ा। जिन शायरों ने उस समय अपनी जान गंवाई उनमें मिर्जा अब्बास बेग बरेलवी "अब्बास" और बदरूल इस्लाम अब्बासी बदायूनी मशहूर थे। अब्बास बेग बरेलवी 'अब्बास' ने 1857 में बाँदा के नवाब का साथ दिया था। जिस शेर के कहने पर उन्हें फाँसी की सजा हुई वह शेर था:–

अख्तर झपक गए तेरे खालों के सामने
गोरों के पांव उठ गए कालों के सामने

बदरुल इस्लाम अब्बासी बदायूनी की जो नज्म उनकी मौत का कारण बनी उसका एक मिसरा था:

सर कम्पनी का कट के बिका एक आने में

1857 के स्वतंत्रता आन्दोलन में उर्दू के शायरों ने अपनी कविताओं से आन्दोलनकारियों का उत्साह–वर्धन भी किया। 2 अगस्त को बहादुर शाह ने एक ऐसी ही रचना वख्त खाँ को लिख कर भेजी, जो 3 अगस्त 1857 के "सादिकुल" अखबार में प्रकाशित हुई। 1 अगस्त 1857 को बकरीद का त्यौहार था, अंग्रेजों ने प्रयास किया कि किसी प्रकार इस अवसर पर दिल्ली में साम्प्रदायिक दंगा हो जाए लेकिन बहादुर शाह ने अपनी कूटनीति से अंग्रेजों की इस साजिश को नाकाम कर दिया। यह बात अंग्रेजों ने अपनी चिट्ठियों में भी स्वीकार की। एक ओर तो बहादुर शाह जफ़र ने ऐसे फरमान जारी किए जो हिन्दू–मुस्लिम रिश्तों को प्रगाढ़ करने में सहायक सिद्ध हुए तो दूसरी तरफ उन्होंने अपनी कविताओं से आन्दोलनकारियों का उत्साह भी बढ़ाया –

लश्करे आदा इलाही आज सारा कत्ल हो
गोरखा गूजर से लेकर ता नसारा कत्ल हो
आज का दिन ईद–ए–कुर्बां का जभी जानेंगे हम
ऐ जफर तहे तेग जब कातिल तुम्हारा कत्ल हो

इसी सम्बन्ध में मुंशी गुलाम अली मुश्ताक ने भी दो कते कहे जो 3 अगस्त के ही 'सादिकुल' अखबार में प्रकाशित हुए :

ईद हर साल तुम्हें तहानियत आमेज रहे
गर्के खूँ जाने उर्दू खन्जरे खूँ–रेज़ रहे
कत्ल कुफ़्फार हों और फतह मुबारक हों ज़फर
नाम को भी न जहाँ में सरे अंग्रेज रहे

जिस समय प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था उस समय मुहम्मद हुसैन आजाद ने एक नज़्म 'तारीखे इन्कलाब इबरत अफ़्ज़ा' कही जिसकी एक–एक पंक्ति अंग्रेजों से नफरत के जहर में बुझी थी –

है कल का अभी जिक्र कि जो कौम नसारा
थी साहबे इक़बालो जहाँ बख़्शो जहाँ दार
थी साहबे इल्मो हुनर हिक्मतो फितरत
थी साहबे जाहो हशम लशकरे जर्रार
सब जौहरे अक्ल उनके रहे ताक़ पे रखे
सब नाखुने तदबीर ख़िरद हो गए बेकार

उर्दू को यह श्रेय भी प्राप्त है कि इसी भाषा में भारत का पहला कौमी तराना लिखा गया जिसे नाना साहब के सहयोगी अज़ीमुल्ला खाँ

ने लिखा था। यह तराना ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में सुरक्षित है। यह तराना उस समय के अखबार 'पयामे आजादी' में प्रकाशित हुआ, जिसमें 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित साहित्य प्रकाशित होता था। देश प्रेम की भावना से ओतप्रोत इस तराने के कुछ शेर प्रस्तुत हैं:

हम हैं इसके मालिक हिन्दोस्तां हमारा
पाक वतन है कौम का जन्नत से भी प्यारा
कितना कदीम कितना नईम सब दुनिया से न्यारा
करती है ज़रखेज जिसे गंगोजमन की धारा
इसकी खानें उगल रही हैं सोना हीरा पारा
इसकी शानों शौकत का दुनिया में जैकारा
आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा
लूटा दोनों हाथ से प्यारा वतन हमारा
आज शहीदों ने है तुमको अहले वतन ललकारा
तोड़ गुलामी की ज़ंजीरें बरसाओ अंगारा
हिंदू मुस्लमाँ सिख हमारा भाई-भाई प्यारा
ये है आजादी का झण्डा इसे सलाम हमारा

1857 में उर्दू के शायरों ने अपनी कविताओं से भारतवासियों के हृदय में देश प्रेम की भावना जगाई तो उलेमाओं ने अपने फ़तबों और पंडितों ने अपने उपदेशों से देशवासियों के दिलों में अंग्रेजों के प्रति घृणा की ज्वाला धधकाई। अंग्रेजों के विरुद्ध दिए गए फ़तवों की ज़बान भी उर्दू ही थी। बख़्तखां बरेली से दिल्ली आए तो उन्होंने एक फतवा लिखवा कर वितरित करवाया। इस फतवे पर चौंतीस उलेमाओं के हस्ताक्षर थे। 1857 में न केवल दिल्ली वरन देश के दूसरे भागों में फतवा प्रकाशित कराकर लोगों को लड़ाई में भाग लेने के लिए प्रेरित किया गया। अंग्रेजों ने फतवा जारी करने वाले उलेमाओं पर जमकर गुस्सा निकाला। मौलवी लियाकत अली जिन्होंने इलाहाबाद में और मौलवी इनायत अली जिन्होंने रुहेलखण्ड में अंग्रेजों के विरुद्ध फतवा दिया, इन दोनों को स्वतंत्रता संग्राम को कुचलने के बाद काला पानी भेज दिया गया।

1 अगस्त 1857 को बकरीद का त्यौहार था, अंग्रेजों ने प्रयास किया कि किसी प्रकार इस अवसर पर दिल्ली में साम्प्रदायिक दंगा हो जाए लेकिन बहादुर शाह ने अपनी कूटनीति से अंग्रेजों की इस साजिश को नाकाम कर दिया। यह बात अंग्रेजों ने अपनी चिट्ठियों में भी स्वीकार की। एक ओर तो बहादुर शाह ज़फ़र ने ऐसे फरमान जारी किए जो हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों को प्रगाढ़ करने में सहायक सिद्ध हुए तो दूसरी तरफ उन्होंने अपनी कविताओं से आन्दोलनकारियों का उत्साह भी बढ़ाया

अंग्रेजों के विरुद्ध विरोध की भावना उन ऐलानों और पोस्टरों ने भी भड़काई जो प्रकाशित करके देश के विभिन्न भागों में वितरित किए गए या जगह-जगह चिपकाए गए। इन पोस्टरों की भाषा भी उर्दू थी। ये इश्तेहार गुप्त रूप से लगाए जाते थे और लगाने वाले पकड़ में भी नहीं आते थे। इसका कारण यह था कि इस प्रकार की गतिविधियों में स्वयं पुलिस भी मिली होती थी। लखनऊ में लगाए गए एलान में लिखा था-

"हिन्दू, मुसलमानो मुत्तहिद (एकजुट) होकर उठो और एक ही बार मुल्क की किस्मत का फैसला कर दो क्योंकि अगर मौका हाथ से निकल गया तो तुम्हारे लिए जान बचाने का भी मौका हाथ न आएगा। ये आखिरी मौका है, अब या कभी नहीं"

इसी प्रकार मद्रास में भी अंग्रेजों के खिलाफ नफरत का प्रचार एक एलान के द्वारा किया गया। इसके बारे में मशहूर हुआ कि इसे मौलवी अहमदुल्लाह शाह ने प्रकाशित कराया था। इस ऐलान में लिखा था-

"देशवासियो और धर्म के मानने वालो तुम सब एक साथ उठो फिरंगियों को बर्बाद करने के लिए, जिन्होंने हमारे मुल्क को खाक में मिलाने का इरादा किया है। सिर्फ एक ही इलाज है और वह यह कि रक्त-रंजित जंग की जाए। यह आजादी के लिए जिहाद है-यह हक और इंसाफ के लिए धर्म युद्ध है।"

1857 के स्वतंत्रता संग्राम में उर्दू ने पग-पग पर साथ दिया। दिल्ली पर आन्दोलनकारियों का कब्जा हुआ तो लोकतन्त्र पर आधारित एक कोर्ट का गठन हुआ। इस कोर्ट का कानून उर्दू में ही प्रकाशित किया गया आन्दोलनकारियों ने एक दूसरे से फौजी सहायता प्राप्त करने के लिए जो पत्र भेजे उनकी भाषा भी उर्दू थी। प्रस्तुत है ऐसे ही एक पत्र का अंश जिसे धार के आन्दोलनकारियों, शाहजादा फिरोजशाह के नाम भेजा गया था-

"हमारे और अंग्रेजों के बीच लड़ाई हो रही है, जिसमें हम हार गए हैं। हमने धार के इलाके में पनाह ली है। आप हमें दो हजार से लेकर तीन हजार फौज से मदद दीजिए, ताकि हम सफलता प्राप्त कर लें, खुदा के लिए पत्र देखते ही सहायता भेज दीजिए-हम क्या लिखें हमारी हार-हार है।"

दुर्भाग्यवश यह पत्र शहजादा फ़िरोजशाह तक नहीं पहुँच सका और इसे नवाब जावरा के आदमियों ने पकड़ लिया, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वफ़ादार थे, इसे इन्होंने इन्दौर में ब्रिटिश रेज़िडेन्ट को सौंप दिया।

1857 के स्वतंत्रता आन्दोलन में उर्दू के प्रेम और अखबार का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं रहा। उर्दू के कवियों और साहित्यकारों की तरह उर्दू के पत्रकारों ने भी इस आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई और इसके लिए उन्होंने कठोर यातनाएं भी सहन कीं।

दिल्ली में बग़ावत के मामलों का फैसला करने के लिए गठित की गई अदालत का क़ानून

जिस समय खान बहादुर खान गिरफ्तार हुए उस वक्त अंग्रेजों ने उनके पास से 36 कागजात बरामद किए जिनकी भाषा उर्दू थी इनमें एक पत्र बहादुर शाह का था, जिसे पढ़कर अंग्रेज आश्चर्यचकित रह गए कि यह खत इतनी देखभाल के बाद खान बहादुर खान तक किस प्रकार पहुँचा। इन्हीं पत्रों में से एक पत्र हज़रत महल का भी था जिसमें हज़रत महल ने खान बहादुर खान से सहायता मांगी थी।

1857 में असंख्य आन्दोलनकारियों ने फाँसी के फंदे को गले में डालने से पूर्व अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने हृदय के उद्गारों को इसी भाषा में व्यक्त किया। नादिर खाँ जो नाना साहब के निकटतम साथी थे उन्हें जब फांसी के लिए ले जाया जाने लगा तो उन्होंने अपने देशवासियों को इन शब्दों में सम्बोधित किया :

अपनी तलवारें उस वक्त तक म्यान में न करना,
जब तक अंग्रेजों को खत्म करके आजादी न प्राप्त हो जाए।

अंग्रेजों ने ऐसे प्रेस और उनके मालिकों पर जमकर गुस्सा निकाला जिन्होंने 1857 के आन्दोलन में किसी भी प्रकार से हिस्सा लिया था। "देहली उर्दू अखबार" के एडीटर मौलवी मुहम्मद बाकर को गोली मार दी गई। "सादिकुल अखबार" के एडीटर जमीलुद्दीन को तीन साल के कठोर कारावास का दंड मिला और उनकी जायदाद जब्त कर ली गई। कलकत्ता के अखबार "गुलशने नौबहार" की प्रेस को भी अंग्रेजों ने जब्त कर लिया। अंग्रेजों के विरुद्ध भावनाएं भड़काने में जिस प्रेस की भूमिका सबसे अधिक सराहनीय रही वह था बरेली का "बहादुरी प्रेस"। इस प्रेस के संस्थापक मौलवी कुतुब शाह ने 'बहादुरी प्रेस' की स्थापना 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को बढ़ावा देने के उद्देश्य से की थी। 1857 का हंगामा हुआ तो कुतुबशाह बरेली कालेज में उर्दू फारसी के अध्यापक थे, उन्होंने इस लड़ाई में भाग लेने के लिए बरेली कालेज की नौकरी छोड़ दी और बरेली कालेज लाइब्रेरी और दूसरे सामानों को नीलाम करके उन्हीं पैसों

से 'बहादुरी प्रेस' की स्थापना की और रुहेलखण्ड में 1857 के आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले खान बहादुर खाँ के नाम पर इस प्रेस का नाम "बहादुरी प्रेस" रखा। इस प्रेस से बड़ी संख्या में अंग्रेज विरोधी इश्तेहार प्रकाशित हुए। बहादुर शाह जफर, खान बहादुर खाँ और शाहजादा फ़िरोज़शाह की अपीलें इसी प्रेस से प्रकाशित हुई थीं। खान बहादुर खान के ऐलान में भारतवासियों को यह प्रेरणा दी गई कि वे एक जुट होकर विदेशी आधिपत्य से अपनी मातृभूमि को मुक्ति दिलाएं और अंग्रेजों की हर साजिश को नाकाम कर दें।

बहादुर शाह जफ़र

"हिन्दू, मुसलमान भाइयो तुम्हें मालूम होना चाहिए कि अगर तुमने अग्रेजों को यहां रहने दिया तो यह तुम सब को खत्म करके तुम्हारे दीन और धर्म को तबाह कर देंगे। हिन्दोस्तानियों को इतनी लम्बी अवधि से अंग्रेज धोखा दे रहे हैं और उन्हीं की तलवार से उनका गला काट रहे हैं। वह फिर फूट डालने का अपना पुराना हथियार इस्तेमाल करेंगे लेकिन हिन्दू भाइयो उनके धोखे में न आना हमें यह बताने की जरूरत नहीं कि अंग्रेज कभी अपने वायदे पूरे नहीं करते। वे चालबाज और विश्वासघाती हैं। इस पवित्र लड़ाई में शामिल हो जाओ एक झन्डे के नीचे लड़ो और खून की नदियों से अंग्रेजों का नाम और निशान हिन्दोस्तान से धो डालो।"

इसी प्रकार शहज़ादा फ़िरोजशाह के ऐलान में, जो इसी प्रेस से प्रकाशित हुआ, भारतवासियों को अंग्रेजों की कूटनीतिक चालों से सचेत कराकर उन्हें इस बात के लिए तत्पर करने की चेष्टा की गई कि वे देशहित में अपने तन, मन, और धन की आहुति देने में संकोच न करें। स्वयं कुतुब शाह ने अपनी ओर से ऐसे ऐलान प्रकाशित कराए जिनमें अंग्रेजों की 'लड़ाओ और हुकूमत करो' की नीति से देशवासियों को होशियार कराने की कोशिश की गई। अंग्रेजों के विरुद्ध नफ़रत की भावना भड़काने वाले सभी ऐलानों पर प्रकाशक एवं मुद्रक की हैसियत से मौलवी कुतुब शाह का नाम छपा होता था। अंग्रेज अपने ऐसे खुले दुश्मन को भला क्यों माफ़ कर देते रुहेलखण्ड पर कब्जे के बाद कुतुब शाह की तलाश शुरू हुई, वह मेरठ से गिरफ्तार हुए। मेरठ से वह बरेली लाए गए। उन पर मुकदमा चलाया गया। पहले उनके लिए फाँसी की सजा देने का फैसला हुआ लेकिन बाद में यह सजा आजीवन कारावास में बदल दी गई और उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। देशहित में कालापानी की सजा स्वीकार करके सैयद कुतुब शाह ने उर्दू साहित्य के इतिहास में ही नहीं वरन भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में भी अपना नाम स्वर्णिम अक्षरों में अंकित करा लिया।

जिस भाषा ने मातृभूमि के मस्तक से गुलामी का दाग छुड़ाने के लिए इतना महत्वपूर्ण योगदान दिया उसके इतिहास का अवलोकन किए बिना कुछ लोग इसे देश को तोड़ने वाली भाषा का आरोप मढ़ कर इसे तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं, कुछ तो इसे वर्ग विशेष की भाषा बताकर लोगों को दिग्-भ्रमित करने का कार्य करते हैं। जबकि उर्दू भाषा का इतिहास यह सिद्ध करता है कि इसने दिलों को तोड़ने का नहीं जोड़ने का काम किया है इकबाल के शब्दों में उर्दू का कवि तो इस बात के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था कि

पिरोना एक ही तस्बीह में इन बिखरे दानों को
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ुंगा

उर्दू भाषा पर लगाया गया यह आरोप भी निराधार है कि यह खास वर्ग या धर्म की भाषा है क्योंकि इसे सजाने संवारने और निखारने में हर वर्ग ने बराबर का योगदान दिया है। इस भाषा ने, जिसका जन्म ही इस देश में हुआ, एक भारतीय भाषा होने की हैसियत से अपने कर्तव्य को समझा भी है और निभाया भी है। भारतवर्ष के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में उर्दू भाषा का योगदान देश की किसी भी दूसरी भाषा की तुलना में किसी प्रकार से कम नहीं है।

डा. दरख़शाँ ताजवर "कायनात"
बी/34 तिवारीपुर आवास विकास कालोनी,
गोरखपुर-273001

विश्व मोहन तिवारी

वृद्धावस्था और मानवीय संस्कृति

आज हमारे समाज में वृद्धों के प्रति जो व्यवहार देखने में आ रहा है वह न केवल निंदनीय है वरन हमारी मानवीय संस्कृति के प्रतिकूल और समाज में दुख को बढ़ाने वाला है। अनेक युवा कहते हैं, यदि हमारे माता-पिता ने हमारा लालन-पालन किया है तो कोई एहसान नहीं किया, पैदा किया है तो वे लालन-पालन भी करें, हम भी करेंगे। आज हम कृषि संस्कृति में नहीं रह रहे हैं। आज हमारे पास सुख भोगने के अकूत साधन हैं, जो इन बूढ़ों के पास नहीं थे। बूढ़े लोग तो 'आउट ऑफ डेट' हैं, अनुत्पादक हैं, उनका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है, ऐसी सोच हमारे युवा वर्ग के दिमाग का दिवालियापन दिखलाती है, उनकी पाश्चात्य संस्कृति की गुलामी दर्शाती है।

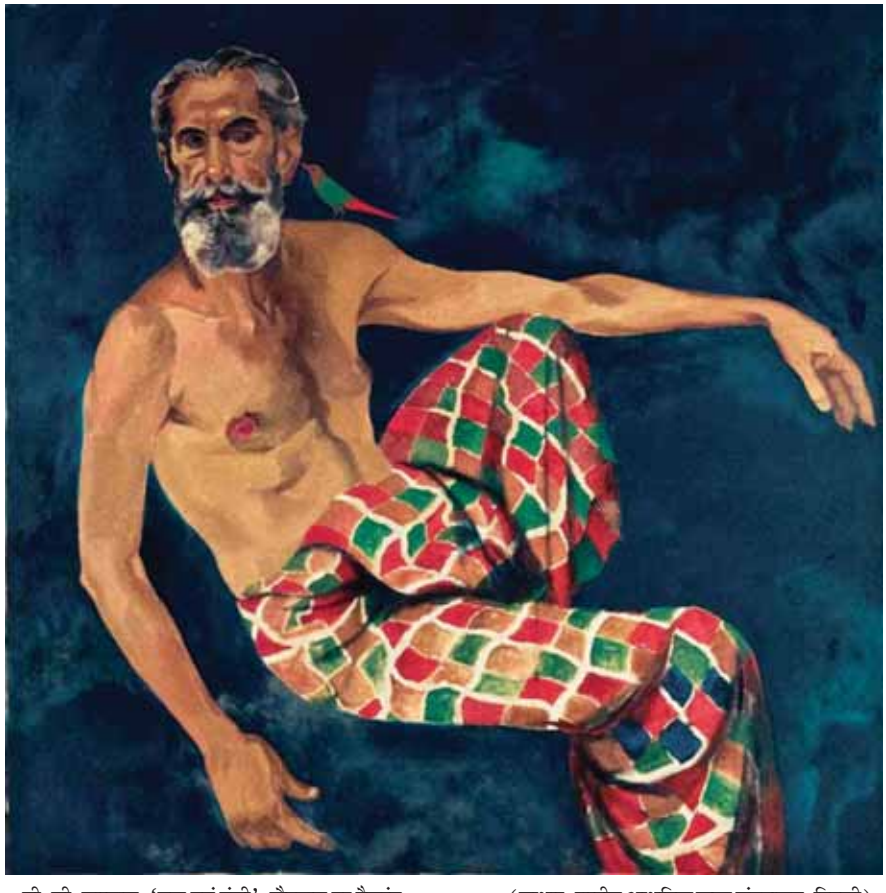

बी. सी. सान्याल, 'वृद्ध एवं पंछी', कैनवास पर तैलरंग (साभार-राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, दिल्ली)

विकसित देश बूढ़े हैं जहां औसत उम्र तो बढ़ ही रही है, बूढ़ों का अनुपात भी तेजी से बढ़ रहा है। जैरॉण्टॉलॉजिस्ट वैस्टनडॉर्प लिखती हैं कि पिछली सदी के अन्तिम बीस वर्षों में यूके में महिलाओं की आयु में चार वर्षों की वृद्धि हुई है किन्तु स्वस्थ्य जीवन की वृद्धि केवल दो वर्ष की हुई है। अत: आयु जितनी बढ़ रही है, स्वस्थ्य जीवन उससे कम बढ़ रहा है। विकासशील भारत आज युवा है, किन्तु 50 वर्षों बाद यह एकदम बूढ़ा हो जाएगा। यदि हम अपनी दिशा नहीं सुधारते हैं तो हमारी बुढ़ापे की समस्याएं बढ़ती जाएंगी।

प्रकृति प्रेमी वर्ड्सवर्थ ने अपनी कविता में, युवावस्था को स्वर्गिक कहा है, "Bliss was it in that dawn to be alive./But to be young was very heaven." गोष्ठी में वृद्धावस्था के लाभ पर भाषण देना था। वे बोले - वृद्धावस्था के लाभ हैं, थोड़ा और सोचने के बाद बोले - वृद्धावस्था के अनेक लाभ हैं, फिर और सोचकर बोले - वृद्धावस्था के बहुत लाभ हैं, और फिर बैठ गए। अर्थात् उन्होंने रोचक रचनात्मक शैली में घोषित कर दिया कि वृद्धावस्था का कोई लाभ नहीं है। प्रसिद्ध कवि विलियम बटलर येट्स की कविता 'Land of heart's desire' में बूढ़ों का दयनीय चित्रण है - वे धार्मिक तथा निष्प्रभ होते हैं, उनकी

बुद्धिमत्ता चालाकी में ढल जाती है, वे कड़वा बोलते हैं। अत: कवि ऐसा परी लोक चाहता है जहां बूढ़े ही न हों। अब्राहम लिंकन की प्रसिद्ध उक्ति है, 'ओल्ड इज गोल्ड' किन्तु ऐसे विचार वाले विद्वान अपवादरूप ही मिलते हैं। ब्रिटिश समाचार पत्र गार्जियन के सहायक सम्पादक मैलकम डीन कहते हैं, 'वहां एजिजम (वृद्धभेद) रेसिजम (रंगभेद) की तरह ही फैला है। एल्डस हक्सले का प्रसिद्ध उपन्यास है, 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' जो एक आदर्श राज्य की कल्पना करता है। उसमें एक स्वप्न है कि मनुष्य को वृद्धावस्था के कष्ट न होंगे, यौवन शक्ति रखते हुए आयु पूरी होने पर उसकी मृत्यु होगी! एक स्वप्न और है कि शराब कितनी भी क्यों न पी लें, उसका हैंगओवर नहीं होता! यह कल्पना दर्शाती है कि पश्चिम में भोगवादी जीवन दृष्टि कितनी गहरी है।

भोगवादी समृद्ध पश्चिम में अनुत्पादक वृद्धों की संख्या में बढ़त 'संभावित अवलम्ब अनुपात' (पोटेन्शियल सपोर्ट रेशों) के कारण आर्थिक चुनौतियां पैदा कर रही है। वहां वृद्धावस्था के शारीरिक तथा आर्थिक पक्षों पर अनुसंधान हो रहे हैं। किन्तु वहां के अधिकांश समृद्ध वृद्ध भी संवेदनाशून्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं क्योंकि उनकी संतान उनसे वर्ष में एक दो बार मिलने आती है, उनके मित्र बिछड़ चुके होते हैं। हालांकि वहां समृद्धि, कर्तव्यनिष्ठा तथा ईमानदारी भारत से अधिक है, तब भी अधिकांश वृद्धाश्रमों में उनके साथ मशीनवत व्यवहार होता है। बुढ़ापे की वास्तविक चुनौती उसका मानवीय पक्ष है, अर्थात् समृद्धि और वृद्धाश्रम वृद्धों की समस्या के सही समाधान नहीं हैं। हम भी उसी दिशा में जा रहे हैं। आज जिस समृद्धि की अवस्था में यू एस ए है अगले बीस वर्षों में संभवतया हम उस अवस्था में पहुंचेंगे।

भारत आज युवा है, किन्तु 50 वर्षों बाद यह एकदम बूढ़ा हो जाएगा। यदि हम अपनी दिशा नहीं सुधारते हैं तो हमारी बुढ़ापे की समस्याएं बढ़ती जाएंगी।

21वीं सदी के भारत का अनुमान ही लगाया जा सकता है जो शेयर बाजार से भी अधिक चंचल है। वह गलत भी हो सकता है। 21वीं सदी के भारत में नैनो, संचार तथा जैव प्रौद्योगिकियों का महत्व बढ़ेगा, इनकी सहायता से शारीरिक श्रम की आवश्यकता और कम होती जाएगी और ज्ञान के द्वारा मनुष्य की उत्पादकता बढ़ती जाएगी। तब स्टीफैन हॉकिंग की तरह दुर्बल मनुष्य भी जीवनोपयोगी कार्य कर सकेगा। उस समय उसे कठिन श्रम के लिए मानव सम रोबोटों की तथा बौद्धिक कार्यों के लिए 'कृत्रिम बुद्धि' सहित कम्प्यूटरों की मदद मिल सकेगी।

स्टैमसैल द्वारा व्यक्ति के अंगों का निर्माण किया जाएगा जो उसके शरीर द्वारा अस्वीकृत नहीं किए जाएंगे। उनके मस्तिष्क में स्थापित 'स्मृति चिप' उनकी स्मरण शक्ति को कम्प्यूटर के बराबर कर सकेगी। मानव के लाखों जीन्स के 3 अरब रासायनिक अक्षरों का जिनोम नक्शा अब बना लिया गया है। एल्जाइमर, पार्किन्सन, मधुमेह, हृदय रोग, गठिया और कैन्सर जैसे असाध्य रोगों को 'जीन प्रौद्योगिकी' द्वारा निष्प्रभावी किया जा सकेगा या जड़ से निकाला जा सकेगा। दूर शिक्षा, दूर चिकित्सा द्वारा ऐसे लाभ दूर तक पहुंचाए जा सकेंगे। प्रौद्योगिकी के सहयोग से जिनॉमिक्स विज्ञान 'रिनैसान्स' की तरह 'जिनैसान्स' ला सकेगी। वृद्धावस्था का अर्थ बीमारी नहीं होगा। प्रौद्योगिकी बुढ़ापे में स्वास्थ्य के लिये वरदान सिद्ध हो सकती है, वह बुढ़ापे के कष्ट कम कर सकती है, किन्तु वह निरर्थक बुढ़ापे को सुखी नहीं बना सकती क्योंकि वह मानवीय संवेदना नहीं दे सकती। प्रौद्योगिकी के इन चमत्कारों को भारत में आने में, लगभग 50 वर्ष और लगेंगे, किन्तु तब भी यह धनी व्यक्तियों के लिए ही उपलब्ध होगी।

निकट भविष्य तक तो भारत में बूढ़ों में व्याधियां अधिक होंगी, जिसमें स्वास्थ्य के स्थान पर मृत्यु की प्रतीक्षा लम्बी होगी। क्योंकि प्रथम हरित क्रांति के फलस्वरूप रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों के उपयोग द्वारा विषैली हुई मिट्टी तथा विषैला पानी बीमारियां बढ़ाता रहेगा। हम सामाजिक सफाई पर ध्यान नहीं देते हैं। सूरत के समान प्लेग कहीं भी हो सकता है। सामान्य पेय जेल की शुद्धता पर लोगों को विश्वास नहीं है और नगर निगमों को इसका जरा भी खेद नहीं है, रेलवे स्टेशन पर विलम्ब से आने वाली गाड़ियों की उद्घोषिका के समान भी नहीं।

तेज प्रौद्योगिक प्रगति के कारण पर्यावरण प्रदूषण 2050 तक बढ़ता रहेगा, जो रोगों को बढ़ाता रहेगा। इस तरह हम प्रौद्योगिकी को वरदान न बनाकर एक अभिशाप सिद्ध कर रहे हैं। अतएव, अगले 50, 60 वर्षों तक भारतीय बुढ़ापा रोगमुक्त नहीं हो सकेगा। धनी व्यक्ति दवाएं खाकर तथा गरीब बिना दवाएं खाए वृद्धावस्था में बीमारियों को झेलते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करेंगे। आशा है कि पृथ्वी को इतना बुखार चढ़ने से पहले और ध्रुवों तथा हिमालयी हिम नदों का अधिक क्षरण होने से पहले हम उसका समाधान निकाल लेंगे ताकि प्रलय न आ जाए और गंगा ग्रीष्म में न सूख जाए। क्योंकि ऐसे में पूरी 21वीं सदी तक हम बुढ़ापे के कष्ट और दुख जीवन भर भोगते रहेंगे।

बुढ़ापे के डर में एक कारण उसका मृत्यु के निकट होना है। मृत्यु के तीन वैज्ञानिक सिद्धान्त अभी तक प्रस्तुत किए गए हैं, उत्परिवर्तन एकत्रण (mutation accumulation) सिद्धान्त, बहुप्रभावी जीन सिद्धान्त (pleiotropic gene) तथा सीमित शारीरिक ऊर्जा (soma disposal) सिद्धान्त, जो मृत्यु के कुछ पक्ष ही समझा पाते हैं। मृत्यु के कारण समझने पर भी मृत्यु का भय तो बना रह सकता है। महर्षि अरविन्द 'विचार एवं झांकियां' में कहते हैं कि, ''मृत्यु वह प्रश्न है जिसे प्रकृति 'जीवन' के समक्ष बार-बार प्रस्तुत करती है और उसे स्मरण कराती है कि उसने अभी तक स्वयं को नहीं समझा है। मृत्यु द्वारा पीछा किए जाने पर वह पूर्ण जीवन के प्रति जागता है और उसके साधन एवं संभावना की खोज करता है।'' हमें तो उसके वरदान पक्ष को लाना चाहिए। यह हम तभी कर सकते हैं जब हम भोगवादी न हों और प्रौद्योगिकी के स्वामी हों, न कि गुलाम जैसे कि अभी हैं।

एक अफ्रीकी कहावत के अनुसार, 'एक वृद्ध एक पुस्तकालय के समान होता है।

हमें अपनी शारीरिक शक्तियों के क्षीण होने पर कष्ट तो हो सकता है, किन्तु दुख क्यों? इसका उत्तर हमारी जीवन दृष्टि पर निर्भर करता है। यूनानी चिन्तक सिसैरो ने लिखा है, ''जीवन में बड़े कार्य शारीरिक शक्ति से नहीं वरन चिन्तन शक्ति तथा नैतिक शक्ति की सहायता से किए जाते हैं, जो बुढ़ापे में पर्याप्त मात्रा में रहती है और बुढ़ापे का होना प्रकृति का नियम है, तब प्रकृति से लड़ना वैसा ही है जैसा कि राक्षसों का देवों से लड़ना।'' किन्तु तब भी पश्चिम, प्रकृति से लड़ता ही आया है और अब जिनके जीवन का अर्थ ही भोग है, इंद्रियों के क्षीण होने से उन्हें जीवन निरर्थक लगने लगता है और वे दुखी होते हैं। जीवन में निरर्थकता का अनुभव मनुष्य को सेवा निवृत्ति पर भी हो सकता है, यह दुखद अनुभव भोगवादी, गरीब और उसे जिसने जीवन को विस्तृत दृष्टि से नहीं देखा हो, होता है। शायद ऐसे व्यक्ति के लिए ही भर्तृहरि ने लिखा था, ''साहित्य, संगीत, कला विहीन: साक्षात पशु पुच्छ विषाण हीन:।''

निगाहों का रिश्ता

कोशिकाओं का समय के साथ क्षीण होना एक प्राकृतिक नियम है, उम्र के साथ दुर्बलता का नियम तो है, किन्तु क्या बुढ़ापे का जीवन अनिवार्य है? क्या ऐसा नहीं हो सकता जैसा कि 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में एल्डस हक्सले ने सोचा था कि मनुष्य बिना बुढ़ापे की कमजोरियों के देह त्याग दे? मानवों के विपरीत, जानवर प्राकृतिक परिस्थितियों में बूढ़ा हो ही नहीं पाता, क्योंकि शैशव को छोड़कर उन्हें अपना भरण पोषण स्वयं करना होता है। अत: जैसे ही वे प्रजनन करने में, अपना भरण पोषण और अपनी रक्षा करने में थोड़ा अक्षम होते हैं, जीवित नहीं बचते। उनके सीखने की क्षमता बहुत सीमित होती है अत: उनका जीवन जन्मप्रदत्त क्षमताओं पर निर्भर करता है। चिम्पैन्जी, मनुष्य का अन्य जातियों में अत्यंत निकट का संबन्धी है। उसके जीन्स हमारे जीन्स से केवल 2 प्रतिशत ही कम हैं। वह 10, 12 वर्ष की आयु से प्रजनन प्रारंभ करता है। उसकी प्रजनन क्षमता या युवावस्था चालीस वर्ष की उम्र तक होती है और उसकी अधिकतम आयु भी लगभग 40 वर्ष होती है। लगभग इतनी ही आयु तक मानव स्त्री की भी प्रजनन क्षमता उच्चकोटि की होती है। तब मानव क्यों इससे लगभग चालीस वर्ष और अधिक जीवित रहता है?

केवल मनुष्य की संतान में बिना सीखे जीने की क्षमता नगण्य होती है। उसे युवा होने तक शिक्षा अनिवार्य होती है और उसमें सीखने की क्षमता भी अनंत-सी होती है। यह शिक्षा अवश्य ही सर्वप्रथम माता-पिता देते हैं, किन्तु पितामह या पितामही के होने से उन बच्चों की उत्तरजीविता तथा योग्यता बहुत बढ़ जाती है। माता-पिता मुख्यतया शरीर तथा इंद्रियों द्वारा चालित जीवन के संसाधन इकट्ठे करने में बहुत व्यस्त रहते हैं और यह सौभाग्य की बात है कि निर्बल शरीर वाले दादा-दादी संसाधन इकट्ठे नहीं कर सकते, अत:, यदि रक्षा विभाग की शब्दावली का उपयोग करें तब, सेनापति की तरह, वे जीवन के 'टैक्टिकल' (अल्पकालीन) दबावों से मुक्त हो सकते हैं, अत: 'स्ट्रैटैजिक' (दीर्घकालीन) कार्य प्रभावी रूप से कर सकते हैं। दादा-दादी,

नाना-नानी अपने जीवन के अनुभवों से ज्ञान तथा मानवीय संस्कारों के भंडार होते हैं और वृद्धावस्था की कृपा से ही उनके पास समय तथा योग्यता होती है, अत: वे अपने पौत्रों तथा पौत्रियों को सहर्ष उचित ज्ञान दे सकते हैं। साथ ही वे शिशुओं को प्रेममय वातावरण देते हैं, जो उनके संवेदनात्मक विकास के लिए नितान्त आवश्यक होता है। यह वातावरण उन्हें मंहगे 'कैश' नहीं दे सकते। ऐसा जीवन स्वयं यह वृद्धों को भी सार्थक लगता है और वे भी ऐसे प्रेममय वातावरण में रहते हुए सुखी रह सकते हैं। यदि ऐसी वृद्धावस्था न हो तब न केवल शिशुओं की उत्तरजीविता कम हो जाएगी, वरन मानव वानरों जैसा बर्बर ही रहेगा।

संस्कृति हजारों वर्षों का उपयोगी ज्ञान जीवन्त रखती है, जिसकी मदद से हम मानव तेजी से प्रगति कर सके हैं। एक अफ्रीकी कहावत के अनुसार, 'एक वृद्ध एक पुस्तकालय के समान होता है।' संस्कृति का विकास होते-होते धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म समाज को धारण करता है न कि केवल एक परिवार को। धर्म संस्कृति को मानवीयता की दृष्टि देता है। मनुष्य जिस मानवता के शिखर पर पहुंचा है, वृद्धों की कृपा से पहुंचा है। वृद्धावस्था मानवता के लिए प्रकृति का अनोखा वरदान है। बूढ़े तथा वृद्ध में अंतर है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों का उम्र के साथ क्षीण होना बुढ़ापा है। भारतीय मनीषा के अनुसार सफेद बालों वाला व्यक्ति वृद्ध नहीं है, बूढ़ा है। अरविन्द आश्रम की श्री मां कहती हैं "युवा होने का अर्थ है भविष्य में जीना, प्रगति ही यौवन है। वेद उसे वृद्ध कहते हैं जो युवा होते हुए भी वेदों का अध्येता है, ज्ञानी है। वृद्धावस्था के लिए ज्ञानी होना आवश्यक है जो उचित शिक्षा दे सकता है।"

तैत्तरीय उपनिषद (2, 7, 1) में ऋषि कहते हैं, "यद्वै तत्सुकृतं, रसो वै स:।" जो उसने रचा है वह आनन्द है। वृद्धावस्था भी आनन्दमय है। हमारे संयुक्त परिवार में वृद्ध निरर्थक नहीं समझे जाते, वरन सम्माननीय होते हैं। 'सेवा सुश्रुषा' का अर्थ है, कहानी आदि सुनने के साथ प्रसन्न होकर सेवा करना। कहानियों से बच्चे प्रसन्न होकर दादा दादी की सेवा करते हैं। रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी, विक्रम बेताल जैसी कहानियों से बच्चों में मानवीय संस्कार पड़ते हैं, उनका विकास होता है।

एल्डस हक्सले का प्रसिद्ध उपन्यास है, 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' जो एक आदर्श राज्य की कल्पना करता है। उसमें एक स्वप्न है कि मनुष्य को वृद्धावस्था के कष्ट न होंगे, यौवन शक्ति रखते हुए आयु पूरी होने पर उसकी मृत्यु होगी! एक स्वप्न और है कि शराब कितनी भी क्यों न पी लें, उसका हैंगओवर नहीं होता! यह कल्पना दर्शाती है कि पश्चिम में भोगवादी जीवन दृष्टि कितनी गहरी है।

पश्चिम में परिवार अब नाभिक हो गए हैं और भोगवाद उन्हें अमानवीय बना रहा है। पश्चिम में परिवार टूटने के अनेक कारण दिए जाते हैं। एक, 'वे आज के प्रौद्योगिक जीवन को कारण बतलाते हैं जिसके कारण युवा को नौकरी दूर स्थित बड़े नगरों में मिलती है', किन्तु इससे हृदयों के बीच दूरी नहीं बढ़नी चाहिए। दूसरा, वे बतलाते हैं कि 'आज ज्ञान का विकास तेजी से हो रहा है, जिसमें कुछ वर्ष पुराना ज्ञान भी अनुपयोगी हो सकता है, अत: बूढ़े आज के लिए 'तारीख बाहर' (outdated) हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि ऐसा ज्ञान, जो रोटी कमाने वाली जानकारी होती है, सच्चे अर्थों में ज्ञान नहीं है। सच्चा ज्ञान वह है जो हमें मानव बनाता है, ऐसा ज्ञान 'तारीख बाहर' नहीं होता, उसमें कभी संशोधन की आवश्यकता हो सकती है। तीसरा कारण, 'फुको द्वारा प्रतिपादित अवधारणा कि सत्ता, केवल शासन या धन के पास नहीं, सत्ता सब जगह है, परिवार में भी है जो बूढ़ों के पास रहती है और उसे 'तारीख बाहर' बूढ़ों के पास नहीं रहना चाहिए।' भारतीय संस्कृति में सत्ता वृद्धों के पास रहती है क्योंकि संतान का माता-पिता, दादा-दादी, आदि से अधिक भला चाहने वाला दूसरा नहीं होता। वे नौकरी से संबन्धित विषय में 'तारीख बाहर' हो सकते हैं, किन्तु अपनी संतान के लिए मानवता की शिक्षा में नहीं। भारतीय सुसंस्कृत वृद्ध अपनी सत्ता का सदुपयोग करना जानता है और त्याग करना भी। उनका भोगवादी समाज बच्चों, किशोरों का शोषण करने के लिए परिवार में फूट डालता है और दुख की बात है कि हम उनके जाल में मस्त होकर फंस रहे हैं। भारतीय सुसंस्कृत वृद्ध बालकों के लिए, मानवता के लिए कभी 'तारीख बाहर' नहीं होता, उसकी योग्यता कम या अधिक हो सकती है। श्री मां के अनुसार ऐसे वृद्ध भी प्रगति करते हैं, वे भविष्य की ओर देखते हैं।

हम पश्चिम की नकल कर भोगवादी हो रहे हैं। हमारे परिवार भी टूटकर नाभिक हो रहे हैं। वृद्धों को अनुपयोगी भार समझा जा रहा है। पढ़े-लिखे लोग भी नितान्त स्वार्थी होकर राक्षसत्व की ओर बढ़ रहे हैं। निठारी भारत के हर शहर में छिपा है और हम इतने स्वकेंद्रित हैं कि हमें पता तक नहीं! वृद्धों का घर में, समाज में सम्मान नहीं है। वृद्धों को बेटे-बहू घर से बाहर निकाल रहे हैं। वृद्धों की हत्या कर

उन्हें लूटा जा रहा है। आज भारत में भी वृद्धाश्रम खोले जा रहे हैं। वृद्धाश्रम भारतीय संस्कृति के लिए कलंक है, हां, निस्संतान निस्सहाय वृद्धों के लिए वृद्धाश्रम खोले जा सकते हैं। शिक्षा से आज के भारतीय बालकों को रोटी कमाने का कौशल तो मिलता है, किन्तु पर्याप्त नैतिक शिक्षा नहीं मिलती, जिसके फलस्वरूप राक्षसत्व बढ़ रहा है। बच्चों को नैतिक शिक्षा माता-पिता तथा दादा-दादी आदि से सहज ही स्वीकार्य होती है। अत: आज तो यह और भी अधिक जरूरी हो गया है कि वृद्ध कम से कम अपने पौत्रादि को कहानियों आदि के माध्यम से

हम पश्चिम की नकल कर भोगवादी हो रहे हैं। हमारे परिवार भी टूटकर नाभिक हो रहे हैं। वृद्धों को अनुपयोगी भार समझा जा रहा है। पढ़े-लिखे लोग भी नितान्त स्वार्थी होकर राक्षसत्व की ओर बढ़ रहे हैं। .... वृद्धों का घर में, समाज में सम्मान नहीं है। वृद्धों को बेटे-बहू घर से बाहर निकाल रहे हैं। वृद्धों की हत्या कर उन्हें लूटा जा रहा है। आज भारत में भी वृद्धाश्रम खोले जा रहे हैं। वृद्धाश्रम भारतीय संस्कृति के लिए कलंक है, हां, निस्संतान निस्सहाय वृद्धों के लिए वृद्धाश्रम खोले जा सकते हैं।

मानवीयता के संस्कार दें। इससे उनके जीवन में भी सार्थकता आएगी, उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा और उनका समाज में सम्मान भी। वे यह संस्कार डालने का कार्य अपने पौत्रादि तक ही सीमित न रखकर यदि समाज के अन्य बालकों, विशेषकर निर्धन बालकों के साथ भी कर सकें तब एक तो उनके जीवन में सार्थकता और बढ़ेगी तथा दूसरे, वे समाज का ऋण भी चुकाएंगे। अत: समाज को और बालकों को मानवीय संस्कार देना अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक वृद्ध यथासंभव इस पुण्य कार्य में योगदान देकर अपना जीवन भी सार्थक बना सकता है। बूढ़ा वही है जिसके पास सार्थक उद्देश्य नहीं, भविष्य की सकारात्मक सोच नहीं।

यह स्पष्ट है कि हम भोगवाद अर्थात् अमानवीयता की दिशा में तेजी से जा रहे हैं और हम पश्चिम से भी अधिक दुखी होंगे। मानवीयता को लाना अर्थात भारतीय संस्कृति को वापिस लाना वृद्धों के लिए सबसे पहली चुनौती है। यदि हम अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा प्राप्त करते रहे तब हमारी गुलामी की भावना और बढ़ती जाएगी, तथा पाश्चात्य संस्कृति हम पर हावी होगी और हम निश्चित ही भोगवाद तथा अलगाववाद की तरफ ही बढ़ेंगे।

हमारी संस्कृति 'तारीख बाहर' नहीं है, उसमें आधुनिक बने रहने की पूरी क्षमता है। हमारी संस्कृति हमें तथा विश्व को भोगवाद के राक्षस से बचाएगी, क्योंकि यह 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' त्यागमयभोग वाली संस्कृति है और यही हमें प्रौद्योगिकी के दासत्व से मुक्ति दिलवाकर, उसका स्वामी बनाएगी। हमारी संस्कृति विज्ञान की मित्र है, अत: हमारी विज्ञान में सम्यक् प्रगति हो सकेगी। हम अंग्रेजी सीखें उतनी कि जो नौकरी के लिए आवश्यक है और अपनी संस्कृति लाने के लिए हम अंग्रेजी की गुलामी छोड़कर भारतीय भाषाओं को सम्मान दें। भारतीय संस्कृति में संयुक्त परिवार की परम्परा है, वृद्धों का सम्मान है। मनु स्मृति में लिखा है,

"अभिवादन शीलस्य नित्य वृद्ध उपसेविन:।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विधा यशोबलम्॥"

हम तो वृद्ध होने से डरते नहीं हैं, वरन उसकी कामना करते हैं। यजुर्वेद में कहा है :-

"अदीना: स्याम शरद: शतम्। भूयश्च शरद: शतात्।"

'सौ वर्षों तक हम दीन न हों, सौ वर्षों तक जीवन जिएं।' हमारे यहां वृद्ध होने का आशीर्वाद भी दिया जाता है।

माता, पिता, गुरु तथा साधु आदि वृद्ध जनों का सम्मान है : *''मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव. . .।"*

महाभारत में सभा की परिभाषा दी है, सभा वह है जहां सम्यक ज्ञान है। *"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा:। वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।"* जो ज्ञान की चर्चा नहीं करते वे वृद्ध नहीं। वह सभा नहीं, जहां वृद्ध नहीं, वह चाहे लोक सभा हो या विधान सभा या चिन्तन सभा। भारतदेश की सभा में जब वृद्धों का, भारतीय संस्कृति का तथा विज्ञान का उचित सम्मान होगा, तभी 21वीं सदी में भारत विश्व में अपना माथा ऊंचा कर प्रगति कर सकेगा।

विश्व मोहन तिवारी,
एयर वाइस मार्शल (से.नि.)
ई-143/21 नौएडा-201301

पर्यावरण संरक्षण वेदों की मूल संस्कृति

कमला कान्त पाण्डेय

इस आलेख के सभी छायांकनों के लिए आभार-मेघातिथि

पर्यावरण का संरक्षण मनुष्य जाति के लिए एक युग धर्म के समान है। जैसे-जैसे इस विद्या पर गहन अनुसंधान होता चला जा रहा है, सभी इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि पर्यावरण मात्र स्थूल प्रकृति तक सीमित नहीं है। डीप इकॉलाजी'' के प्रवर्तक एवं जर्मन प्राणी शास्त्री अर्नेस्ट हेकल (1869) एवं इससे संबंधित अन्य विद्वानों ने अपने सटीक वैज्ञानिक विचार दिए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह प्रकृति समग्र 'इकोसिस्टम' (Eco-System) के रूप में एक विराट हृदय के समान धड़कती भी है - श्वास भी लेती है। समष्टि में व्यष्टि रूपी घटक की तरह हम भी उसके अंग हैं। यदि चैतन्यता के स्तर पर गहरा चिंतन किया जाए तो प्रकृति को पहुंचाई गई थोड़ी क्षति भी हमें और हमारी भावी पीढ़ी को पहुंचाई गई क्षति है। सुप्रसिद्ध पुस्तक ''वेब ऑफ लाइफ'' में फिट्जॉफ काप्रा जैसे नोबल पुरस्कार प्राप्त भौतिकविद् ने विस्तृत वर्णन कर, मानवीय हृदय के भाव और संवेदनाओं को प्रकृति तथा पर्यावरण के साथ जोड़ उनका अविच्छिन्न संबंध स्थापित किया है। आज से लगभग 3500 वर्ष पूर्व हमारे मंत्रद्रष्टा ऋषि-मुनियों ने भी मानव को प्रकृति के साथ मैत्री, करुणा एवं भक्ति-भाव के साथ जोड़कर उनकी रक्षा करने का निर्देश दिया है, जिनका वर्णन वेदों में है।

वेद ब्रह्म वाणी हैं जिनमें प्रकृति से संबंधित देवताओं (शक्तियों) का विशद विवरण है, जैसे - पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, वायु, अन्तरिक्ष, आकाश एवं जीव - जन्तु।

ऋग्वेद में वर्णन है कि वायु देव हमें सुखद औषधियाँ प्रदान करें। माता पृथ्वी, आकाश पिता और सोम निष्पादित करने वाले पाषाण, हमें औषधि दें। तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न अश्विनी कुमारो! आप हमारी प्रार्थना सुनें (ऋग्वेद 01.09.972)।

ऋग्वेद में आगे लिखा हुआ है कि ''समर्थ सूर्यदेव की धारण क्षमता पर माता पृथ्वी आधारित है। गर्भ (उर्वर शक्ति प्रणापर्जन्य) जननशील (वायु अथवा बादलों) के बीच रहता है। बछड़ा (बादल) गौओं (किरणों) को देखकर शब्द करते हुए अनुमान करता है, तब तीनों का संयोग विश्व को रूपवान बनाता है।'' (ऋग्वेद 1.164.1724) इसमें अग्नि से सम्बन्धित प्रार्थना इस प्रकार है -

''हे अग्नि देव! आप नित्यनूतन अथवा अति प्रशंसनीय हैं। आपकी कृपा से हम सभी प्रकार के दुर्गम एवं कष्टकारी दु:खों से निवृत हों। यह समग्र पृथ्वी (नदी, पर्वत, वन, उपवन) गाँव नगर हमारे लिए

उत्तम और विस्तृत हों। आप हमारी सन्तानों को सुख प्रदान करें।" (ऋग्वेद 1.189.1976)

ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्रों से यह परिलक्षित होता है कि मानव हमेशा अपने को प्राकृतिक शक्तियों (देवताओं) के अधीन रखते हुए मर्यादित ढंग से उनमें अपनी निष्ठा एवं भक्ति प्रतिष्ठित करता है। लेकिन वर्तमान समय में मानव अपने को प्रकृति से अलग एक शक्ति के रूप में स्थापित करने में लगा हुआ है और प्रकृति को अपने अधीन करने की नाकाम कोशिश कर रहा है। आज मनुष्य जाति ने अत्यधिक वैभव विलासिता का जो अदूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया है और जिस क्रम से हमारी तथाकथित 'प्रगति' प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ रही है, उससे यह स्पष्ट होता है कि तात्कालिक लाभ में अंधे होकर हम भविष्य को घोर अंधकारमय बनाने के लिए आतुर हो रहे हैं। मशीनीकरण, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और उनका अंधाधुंध उपयोग, राष्ट्रों के बीच सर्वशक्तिमान बनने की महत्वाकांक्षाएं और उसके फलस्वरूप आणविक अस्त्र-शस्त्रों की होड़, सब मिलाकर परिस्थितियां नियंत्रण से बाहर हो चली हैं, इससे विचारशीलों का चिंतित होना और तथाकथित प्रगति पर रोक लगाना आवश्यक हो गया है। अगर ऐसा नहीं होता है तो अवांछनीय परिवर्तनों के कारण आज जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, मृदा-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, इलेक्ट्रॉनिक-प्रदूषण एवं रेडियोधर्मी प्रदूषण जैसी समस्याएं दिन पर दिन बलवती होती जा रही हैं और इनके सामने सभी मानवीय शक्तियां दुर्बल प्रतीत हो रही हैं।

"वर्तमान समय में मानव अपने को प्रकृति से अलग एक शक्ति के रूप में स्थापित करने में लगा हुआ है और प्रकृति को अपने अधीन करने की नाकाम कोशिश कर रहा है। आज मनुष्य जाति ने अत्यधिक वैभव विलासिता का जो अदूरदर्शी दृष्टिकोण अपनाया है और जिस क्रम से हमारी तथाकथित 'प्रगति' प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ रही है, उससे यह स्पष्ट होता है कि तात्कालिक लाभ में अंधे होकर हम भविष्य को घोर अंधकारमय बनाने के लिए आतुर हो रहे हैं।"

जल जीवन का मुख्य तत्व है। इसलिए वेदों में अनेक संदर्भों में इसके महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

यथा - "जल में अमृतोपम गुण है, जल में औषधीय गुण हैं, देवो! ऐसे जल की प्रशंसा से आप उत्साह प्राप्त करें" (वही 1.23.248)। इसी सूक्त में आगे लिखा गया है -

"हे जल समूह! जीवन रक्षक औषधियों को हमारे शरीर में स्थित करें, जिससे हम निरोग होकर चिरकाल तक सूर्य देव का दर्शन करते रहें" (ऋग्वेद 1.23.250)।

ऋग्वेद में मानव का जल के प्रति अपनी निष्ठा एवं अपने दोषों के प्रति क्षमा मांगने की प्रवृति के साथ-साथ अपने किए गए असत्य आचरण को दूर करने की याचना की गई है। जैसे - "हे जल देवो हम याजकों ने ज्ञानवश जो दुष्कृत्य किए हों, जान-बूझकर किसी से द्रोह किया हो, सत्यपुरुषों पर आक्रोश किया हो या असत्य आचरण किया हो तथा इस प्रकार के हमारे जो भी दोष हों, उन सबको बहाकर दूर करें" (ऋग्वेद 1.23.251)।

"अथर्ववेदीय पृथ्वी सूक्त में जल तत्व पर विचार करते हुए उसकी शुद्धता को बनाए रखना स्वस्थ जीवन के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है" (अथर्ववेद 12.1.30)।

निसंदेह, "जल-संतुलन से ही भूमि में अपेक्षित सरसता रहती है, पृथ्वी पर हरीतिमा छायी रहती है, वातावरण में स्वाभाविक उत्साह दिखाई पड़ता है एवं समस्त प्राणियों का जीवन सुखमय तथा आनन्दमय बना रहता है" (अथर्ववेद 12.1.52)।

जल के साथ-साथ सभी ऋतुओं को अनुकूल रखने का वर्णन भी वेदों में मिलता है। जल के महत्व को भारत ही नहीं, विश्व के सभी देश और वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। "फिनलैंड में हजारों वर्ष से शनिवार के दिन सामूहिक स्नान करने की प्रथा है। जर्मनी में कटि स्नान और जल-चिकित्सा को व्यापक महत्त्व दिया गया है। अमेरिका के फिलाडेलफिया, न्यूयार्क, वर्जीनिया, पेंसिलवेनिया में जल-चिकित्सा का बहुत प्रसार हुआ है। रोम, जापान, चेकोस्लोवाकिया में प्राकृतिक झरनों आदि में स्नान का प्रचलन है। भारतवर्ष में तीर्थों के महत्व के साथ वहां स्नान का महत्व अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। गंगा जी का जल तो अमृत की तरह पूज्य माना गया है। आयुर्वेद का कथन है - "प्रात: काल सोकर उठते ही एक गिलास शीतल जल पीने वाला सदैव निरोग रहता है, मस्तिष्क शीतल, पेट का पाचन तंत्र मजबूत, आँखों में चमक रहती है। शुद्ध जल-मनुष्य का जीवन है, उसके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।"

आज जल-प्रदूषण भी संसार के सामने एक महंगी समस्या बन गया है। विश्व के अधिकांश शहर नदियों के तट पर बसे होते हैं, भारी

उद्योग शहरों में ही होते हैं। कनाडा आदि विकसित देशों में तो हाइपीरियन जैसे टैंक भी बनाए गए हैं, जो शहरों का मल और गंदगी साफ कर देते हैं। केवल शुद्ध किया हुआ जल ही नदियों में गिरने देते हैं, किन्तु भारतवर्ष में तो शहरों के लाखों लोगों का मल-मूत्र भी नदियों में ही गिराया जाता है, चाहे वह गंगा जैसी पवित्र नदी ही क्यों न हो। ऋषिकेश के एंटीबायोटिक कारखाने से लेकर कलकत्ते तक उसमें कितना मैला, कूड़ा-कचरा गिरता है, उसकी याद करने मात्र से ही जी सिहर उठता है और लगता है, आज सचमुच ही गंदगी की दृष्टि से दुनिया नरक हो गई है। किसी समय अमेरिका के सुन्दर झरने प्रकृति प्रेमियों का मन मोह लेते थे, अब उनके किनारों पर बड़े-बड़े सूचना बोर्ड लगे हैं - खबरदार, पानी जहरीला है, इसमें तैरिए मत। राइन नदी को तो यूरोप का गटर कहा जाता है।

असामान्य आवाज (30 डेसिबल से अधिक) चाहे वो विमानों की आवाज हो, कल-कारखानों की, मशीनों की, सड़क पर दौड़ती मोटर-गाड़ियों की, बम, गोली, पटाखों की या स्वयं मानव जन्तुओं की हो, हलचल पैदा कर देती है, मानसिक और शारीरिक विकृति पैदा कर देती है

सम्पूर्ण पृथ्वी का एक तिहाई भाग जल से घिरा हुआ है। ठीक उसी प्रकार सभी जीवों के शरीर में जल की मात्रा अधिक होती है अर्थात् जीवन जल पर निर्भर करता है। अगर इस अमूल्य तत्व की महत्ता को जानते हुए इसकी पौष्टिकता एवं औषधीय गुणों की रक्षा करने में हम लापरवाही बरतते हैं तो प्रकृति के अपराधी हैं। इस अपराध से मुक्त होने के लिए स्वार्थ से ऊपर उठकर वेदों में बताए गए निर्देशों का पालन दृढ़ता के साथ करना होगा। ऋग्वेद में उद्धृत है कि - "शुद्ध जल अभीष्ट प्राप्ति के लिए तथा प्राणों की रक्षा के लिए कल्याणकारी हो। जल हम पर सुख समृद्धि की वर्षा करें" (ऋग्वेद 09.04)

अथर्ववेद में जल की महत्ता पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है-

"जल मङ्गलमय और घी के समान पुष्टिदाता है तथा वही मधुरता भरी जलधाराओं का स्त्रोत भी है और भोजन पचाने में उपयोगी तीव्र रस है। प्राण और कान्ति, बल और पौरुष देने वाला, अमरता की ओर ले जाने वाला मूल तत्व है। इसके उचित प्रयोग से बल, तेज दृष्टि और श्रवण शक्तियां बढ़ती हैं" (अथर्ववेद 63.15.5)।

औद्योगिक क्रान्ति ने मानव को भौतिक सुख जरूर दिया, लेकिन बदले में सभी प्राणियों के जीवन को संकट में डालने का काम भी कर रहा है। वांशिगटन के नवयुवकों ने अपने हाथ में तख्ती लिए प्रदर्शन किया, जिस पर लिखा था - "सांस मत लो, इस हवा में जहर है।" डिब्राइट नदी पर स्थित एक इस्पात मिल के दरवाजे पर अपने गले में तख्तियां लटकाए वहां की स्त्रियों ने धरना दिया, जिस पर लिखा था- "हमारे सुन्दर परिवार को जहर पिलाकर मत मारो"। लॉस एंजिल्स के क्रीडांगन के समीप बड़े-बड़े सूचना पटल पर चेतावनी दी गई - कि "डू नॉट ब्रीद टू डीप" अर्थात् गहरी सांस मत लीजिए।

जापान की राजधानी टोक्यो में पुलिस को हर आधे घंटे बाद ऑक्सीजन टैंकों से ऑक्सीजन का सेवन करना पड़ता है, क्योंकि गाड़ियों के धूम-धमाके से कार्बन - मोनो-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है। अमेरिका में हर बारह सेकेन्ड पर एक बच्चा जन्म लेता है और हर पांच सेकेन्ड पर एक गाड़ी का उत्पादन होता है। भारत में पश्चिमी देशों की तुलना में वाहनों की संख्या तो कम है, पर धुएँ की मात्रा लगभग एक समान है। पुराने वाहनों द्वारा अधिक धुआं फेंकना इसका कारण हो सकता है।

इस तरह की चेतावनियां, सावधानी संकेत, जुलूस व व्यवस्थाएं किसी सनक का परिणाम नहीं, अपितु आज अत्यन्त बुद्धिमान माने जाने वाले मनुष्य के लिए एक गंभीर चुनौती है कि वह अपने द्वारा उत्पन्न किए गए पर्यावरण प्रदूषण को सुलझाएं अन्यथा अपने ही चिराग से निकला जिन्न-अपनी ही मानवीय संस्कृति को निगल जाने को तैयार है। भारतीय संस्कृति में वायु, जल और अन्न को धरती के तीन रत्न कहा गया है। इनके शुद्धि और रक्षा का निर्देश वेदों में इस प्रकार है - "इस वायु के गृह में जो यह अमरतत्त्व की धरोहर स्थापित है, वह हमारे जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।" आगे इसी मंडल में वर्णन मिलता है कि - शुद्ध वायु तपेदिक - जैसे घातक रोगों के लिए औषधि रूप है। "शुद्ध ताज़ा वायु अमूल्य औषधि है, जो हमारे हृदय के लिए दवा के समान उपयोगी है, आनन्ददायक है। वह उसे प्राप्त कराता है और हमारी आयु को बढ़ाता है" (ऋग्वेद 10.186.1)।

वेद का आरंभ ही 'अग्नि' के स्तवन से होता है जो सफल जीवन का अग्रणी नेता है। स्वयं आगे आकर समस्त वातावरण का हित करने वाला तथा शुभदायक माना गया है। ऋग्वेद में "अग्नि को पिता के समान कल्याण करने वाला कहा गया है" (ऋग्वेद 1.1.9)

वेद के प्रथम मंत्र का स्तवन समाज संतुलन का संकेत करता है, त्याग का महत्व प्रतिपादित करता है। यहां 'देव ऋत्विजम' से अभिप्राय

है स्वयं उत्सुक होकर हित करना। त्याग की भावना से प्रेरित नहीं रहने पर स्वार्थ की प्रवृति बढ़ती है और उससे कटुता उत्पन्न हो जाती है, जो असंतुलन का मूल कारण सिद्ध होता है। अग्नि केवल पृथ्वी पर ही नहीं है, वह अंतरिक्ष और आकाश में भी है। अंतरिक्ष में विद्युत् के रूप में और भूलोक-आकाश में सूर्य के रूप में अग्नि ही है। अभिप्राय यह है कि ये सब एक सूत्र में बंधे हुए हैं - यही प्राकृतिक अनुकूलता है।

सूर्य किरणों में उपलब्ध सात रंगों में से एक हरा रंग ही जीवन के तत्त्वों का पोषण करने की क्षमता रखता है। यदि वनस्पति में हरा रंग न हो, तो वह क्लोरोफिल के अभाव में सूर्य से अपना भोजन प्राप्त नहीं कर सकता। वनस्पति का जीवन संदिग्ध हो जाएगा और इन पर निर्भर करने वाले शाकाहारी प्राणी भी संकट में आ जाएंगे। सूर्य के प्रकाश का संपर्क हमारी सुदृढ़ता, स्फूर्ति और प्रजनन में समर्थ बल-वीर्य की वृद्धि करता है। संतान रहित और दुर्बल संतान वाले व्यक्ति सूर्य के सम्पर्क में रहें तो वे संकट से मुक्त रह सकते हैं। राजा दिलीप को संतान प्राप्ति के लिए गुरु वशिष्ठ ने उन्हें खुली हरीतिमा में दिन-भर घूमते हुए गाय चराने का उपचार बताया था। अत: सूर्य की किरणों में जीवन तत्त्व भरा पड़ा है जो किसी वातानुकूलित बन्द कमरे, कूलर एवं पंखे की हवा या बिजली की रोशनी से प्राप्त नहीं हो सकता।

ध्वनि प्रदूषण भी पृथ्वी, जल एवं वायु प्रदूषण की श्रेणी में आ गया है। मंद से मंद ध्वनि जो मनुष्य के कानों से सुनी जा सकती है, उसे 'शून्य डेसीबल' इकाई माना गया है। कानाफूसी प्राय: 10 से 20 डेसीबल तक की होती है। मनुष्य के कान 25 से 30 डेसीबल तक की आवाज को सहन कर सकते हैं। आस्ट्रिया के ध्वनि विज्ञानी डा. ग्रिफिल के अनुसार कोलाहल में रहने वाले अपेक्षाकृत अधिक जल्दी बूढ़े होते हैं। इंग्लैण्ड की स्वास्थ्य रिपोर्ट के अनुसार शोर वाले क्षेत्रों में एक चौथाई लोगों को न्यूरोसिस, सनक की मस्तिष्कीय विकृति से ग्रस्त पाया जाता है। अमेरिका में यांत्रिक विकास सबसे अधिक है। वहां के 50 लाख कारखाना मजदूरों में से 10 लाख के कान खराब पाए गए। फ्रांस की औद्योगिक बस्तियों के पागलखाने बताते हैं कि हर पांच व्यक्तियों में से एक कोलाहल की उत्तेजना से अपना दिमाग खो बैठा है। ब्रिटेन और फ्रांस के सहयोग से बने सुपर कनकार्ड लड़ाकू विमान ने अपनी दहलाने वाली आवाज से केन्योन की ऐतिहासिक गुफाओं में दरारें डाल दीं। डॉक्टरों ने चेतावनी दी थी कि उसके उड़ान मार्ग के 100 मील तक के दायरे में रह रहे हृदय रोगियों का जीवन संकट में पड़ जाएगा। फलत: उस क्षेत्र में उसके उड़ने पर प्रतिबंध लगाया गया।

असामान्य आवाज (30 डेसिबल से अधिक) चाहे वो विमानों की आवाज हो, कल-कारखानों की, मशीनों की, सड़क पर दौड़ती मोटर-गाड़ियों की, बम, गोली, पटाखों की या स्वयं मानव जन्तुओं की हो, हलचल पैदा कर देती है, मानसिक और शारीरिक विकृति पैदा कर देती है, यहां तक कि वनस्पतियां भी अपने को असामान्य और असुरक्षित समझने लगती हैं जिससे प्रकृति द्वारा बनाए गए नियम भंग हो जाते हैं और समस्याएं हमारे सामने अपने विकृत रूप में प्रकट हो जाती हैं।

यदि प्रकृति की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए उसके नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन किया जाए (जो वेद सम्मत है) तो उन पर वर्णित विभिन्न प्रकार की समस्याओं अथवा बीमारियों से मुक्ति मिल सकती है।

अथर्ववेद के अनुसार - "भाई-भाई से, बहन-बहन से अथवा परिवार में कोई भी एक-दूसरे से द्वेष न करें। सब सदस्य एक मत और एकव्रती होकर आपस में शान्ति से भद्र पुरुषों के समान मधुरता से बातचीत करें।" मधुरता का वातावरण बनाए रखने के लिए इस वेद में निर्दिष्ट है - 'मेरी जीभ से मधुर शब्द निकलें। भगवान का भजन-पूजन कीर्तन करते समय मूल में मधुरता हो। मधुरता मेरे कर्म में निश्चय से रहे। मेरे चित्त में मधुरता बनी रहे' (अथर्ववेद 1.34.2)।

इससे यह स्पष्ट होता है कि (मानव एवं जीव-जन्तु) स्वर (आवाज) की मधुरता को ध्यान में रखते हुए (30 डेसिबल से अधिक नहीं) बोलें या निर्माण कार्य (विमान, कल-कारखाने, मोटर-गाड़ियां एवं उनके हार्न आदि) करें। इससे हमारा जीवन मधुर रहेगा और हमारी आयु लम्बी होगी।

शरीर की अस्वस्थता विभिन्न प्रकार के प्रदूषण को जन्म देती है। यदि शरीर किसी प्रकार की व्याधि (भूख की कमी, कमजोरी, घाव, वात, पित्त, कफ एवं पांच इन्द्रियों से संबंधित रोग) से ग्रसित होता है तो इसका सीधा प्रभाव मन मस्तिष्क पर पड़ता है। व्यक्ति या कोई भी जीव यदि तनाव और अवसाद का शिकार हो जाता है, तो उनके विचार या दृष्टिकोण कुंठित हो जाते हैं। शरीर और मन प्रदूषित हो जाता है। मन में क्रोध, लोभ, मोह एवं स्वार्थ प्रभावशाली हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वह परिवार, समाज, राज्य एवं राष्ट्र के लिए एक भयंकर प्रदूषण (हानिकारक) साबित होता है। ऐसे प्रदूषण से बचने के लिए वेदों में निम्नलिखित निर्देश दिए गए हैं - "जो भी खाद्य पदार्थ हम खाएं, वह यथा विधि खाएं, जल्दबाजी न करें। खूब चबा-चबाकर शान्तिपूर्वक खाएं। जैसे यथा विधि खाने वाला समुद्र सब कुछ पचा लेता है। हम शाक-फल-अन्न आदि रस वर्धक खाद्य ही खाएं" (अथर्ववेद 6.135.3)।

इससे स्पष्ट होता है कि हमें शान्तिपूर्वक एकाग्रचित होकर चबा-चबाकर भोजन करना चाहिए। अधिकांश रस वर्धक भोजन का सेवन ही करना चाहिए जो सुपाच्य होता है। इससे शरीर स्वस्थ रहता है और स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है एवं स्वस्थ मन में ही स्वस्थ विचार जन्म लेते हैं, जो लोक कल्याणकारी होते हैं।

वृक्ष पूजा की परम्परा वेद के साथ-साथ अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी मिलती है। वृक्षारोपण को ब्रह्मकर्म के समतुल्य माना गया है। महाभारत और मत्स्य पुराण में तो एक वृक्ष लगाने को सौ पुत्रों से बढ़कर पुण्य माना है। दक्ष स्मृति में कहा गया है -

''फल और फूलों से भरे हुए वृक्ष मनुष्यों को तृप्त करते हैं, जो वृक्ष दान करते हैं, उनको वे वृक्ष परलोक में पुत्र की भांति पार उतारते हैं। अत: कल्याण की इच्छा रखने वालों को सदा ही सरोवर के किनारे वृक्ष लगाना चाहिए।''

अथर्ववेद के 12वें काण्ड के प्रथम सूक्त में कहा गया है - ''सभी प्राणी पृथ्वी के पुत्र हैं।'' इसी सूक्त में आगे वर्णन है - ''भोजन और स्वास्थ्य देने वाली सभी वनस्पतियां इस भूमि पर ही उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी सभी वनस्पतियों की माता और मेघ पिता है, क्योंकि वर्षा के रूप में पानी बहाकर यह पृथ्वी में गर्भाधान करता है।'' इस सूक्त के एक अन्य मंत्र में मानव संसाधन संबंधी तत्वों का वर्णन इस प्रकार है -

''पृथ्वी में नाना प्रकार की धातुएं ही नहीं, वरन् जल और खाद्यान्न, कन्द-मूल भी पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं, चतुर मनुष्यों को इससे लाभ उठाना चाहिए'' (अथर्ववेद 12.1.60)।

प्राचीन काल के ऋषि-तपस्वी अपनी भाव-चेतना को उच्च स्तरीय बनाए रखने के लिए सघन वनों में रहते थे, क्योंकि हरीतिमा का मानसिक स्तर पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वृक्ष रहित क्षेत्रों में मनुष्यों की मनोवृत्ति नीरस और दुष्ट हो जाती है और वहां पागलपन, अपराध विग्रह अपेक्षाकृत अधिक होने लगते हैं। यही कारण है कि शहरों में जगह-जगह पार्क बनाने पर जोर दिया जा रहा है। वृक्ष दिन भर प्राण-वायु (ऑक्सीजन) उगलते हैं और प्राणियों द्वारा छोड़ी हुई कार्बन डाई ऑक्साइड को निगलते हैं, इसलिए उन्हें ''नीलकंठ'' की उपमा दी गई है। वृक्षों में चुम्बकत्व होता है जो आकाश से बादलों को खींचता है और बरसने के लिए विवश करता है। जिन क्षेत्रों में वृक्ष कम होते हैं वहां वर्षा का अनुपात कम होता है। एक वृक्ष एक ऋतु में 130 लीटर पेट्रोल के शीशे का अंश सोखकर उसे लेड फॉस्फेट में बदल देता है। यह पानी में घुलता नहीं, इसे जीवन भर अपने आप में आत्मसात किए रहता है। प्रकृति की गर्मी की असह्य मात्रा को भी संतुलित रखने में वृक्ष सहायक होते हैं।

जनसंख्या वृद्धि और वनों की कटाई, ऑक्सीजन और कार्बन डाई ऑक्साइड का संतुलन बिगाड़ रहे हैं, परिणामस्वरूप अनेक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। जैसे-सल्फर डाई ऑक्साइड, कैडमियम, लेड, नाइट्रोजन ऑक्साईड एवं एटॉमिक रेडिएशन (अणु विकिरण) की वृद्धि जीवन के लिए खतरा बन रही है। मान्ट्रियल स्थित मैकगिल विश्वविद्यालय की ''गैस्ट्रो इन्टेस्टाइन रिसर्च लैबोरेटरी'' ने अपनी शोधों के आधार पर बताया है कि साधारण घास तक रेडिएशन से रक्षा करती है। अत: पृथ्वी में हरीतिमा अभिवृद्धि, वृक्षारोपण, पुष्पवाटिका अभियान को नैतिक कर्तव्य के रूप में पूरा करना चाहिए तभी सही मायने में विश्व का कल्याण सम्भव है।

वृक्ष पूजा की परम्परा वेद के साथ-साथ अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी मिलती है। वृक्षारोपण को ब्रह्मकर्म के समतुल्य माना गया है। महाभारत और मत्स्य पुराण में तो एक वृक्ष लगाने को सौ पुत्रों से बढ़कर पुण्य माना है।

यज्ञ को भी ऊर्जा का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मानते हुए पर्यावरण - परिशोधन के लिए वेदों एवं अन्य प्राचीन शास्त्रों में आवश्यक बताया गया है।

ईशावास्योपनिषद में पर्यावरण की शुद्धता के लिए यज्ञ को अनिवार्य बताया गया है, और यह कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए ही जीव इस जगत में सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे। इस प्रकार किए जाने वाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक और कोई मार्ग नहीं है, जिससे मनुष्य कर्म से मुक्त हो सके।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आज विभिन्न प्रकार के प्रदूषण तीव्र गति से फैलते जा रहे हैं, जिनका एक मात्र कारण है - वेदों के निर्देशों की अवहेलना करना, वेदों की संस्कृति को नजर अंदाज करना। हजारों वर्ष पूर्व के वेदों के नारों से विश्व को परिचित कराना होगा और उसे आत्मसात करने के लिए प्रेरित करना होगा। नारा है - ''प्रकृति की ओर लौटो, समस्याओं का समाधान स्वत: हो जाएगा।''

कमला कान्त पाण्डेय
व्याख्याता, प्राचीन भारतीय एशियाई
अध्ययन विभाग,
शाक्य मुनि कॉलेज, बोधगया, बिहार

भित्ति चित्रकला वैभव

डॉ. वंदना वर्मा

आदिकाल में मानव ने जब अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से व्यक्त करनी प्रारम्भ की तो सर्वप्रथम उसने भित्ति पर ही चित्र अंकित करना प्रारम्भ किया। भारतवर्ष में भित्ति चित्रण की परम्परा अति प्राचीन रही है।

जनपद सहारनपुर में भित्ति चित्रों का कला वैभव क्षेत्र में बिखरा हुआ है। भित्ति चित्रों के विशिष्ट उदाहरण सहारनपुर (नगर), गंगोह, नकुड़, ननौता, मानकी तीतरों चिलकाना, सुल्तानपुर, कोटा, बड़गाँव, ठोला, देववृन्द व सरसावा आदि में मिले हैं

जनपद सहारनपुर में भित्ति चित्रों का कला वैभव क्षेत्र में बिखरा हुआ है। भित्ति चित्रों के विशिष्ट उदाहरण सहारनपुर (नगर), गंगोह, नकुड़, ननौता, मानकी तीतरों चिलकाना, सुल्तानपुर, कोटा, बड़गाँव, ठोला, देववृन्द व सरसावा आदि में मिले हैं, जिनमें अधिकांश भित्ति चित्र सहारनपुर (नगर), चिलकाना, कोटा व देववृन्द में पाए गए हैं जबकि अन्य स्थानों पर भित्ति चित्रों की संख्या कम पाई गई है।

प्राचीन समय से ही भित्ति चित्रण की दो प्रणालियां प्रचलित हैं। पहली प्रणाली में चूने के प्लास्टर से बनी चित्र-भूमि पर गीली अवस्था में किए गए चित्रण को शुद्ध फ्रेस्को (ब्रूनों) नाम दिया गया है और दूसरी प्रणाली में सूखे प्लास्टर पर किए गए चित्रण को फ्रेस्को सेक्को नाम दिया गया है। (फ्रेस्को शब्द इटली के फ्रेश शब्द से बना है, जिसका अर्थ ताजा प्लास्टर है।) सहारनपुर जनपद के इन भित्ति चित्रों के निर्माण में दीर्घ परम्परागत विधि का उपयोग किया गया है। जिसे फ्रेस्को सेक्को कहा जाता है। सहारनपुर जनपद के इन चित्रों के विषय कहीं धार्मिक हैं तो कहीं सामाजिक हैं।

सहारनपुर जनपद में भित्ति चित्रण अधिकांशत: धार्मिक विषयों से प्रभावित रहे हैं। हिन्दू धार्मिक कथाओं से उदृत श्रीकृष्ण का गिरि गोवर्धन धारण लीला, कंस वध, बकासुर वध, गोपियों के साथ रासलीला, कालिया दमन, चीर-हरण, विष्णु-सुदामा, विष्णु-लक्ष्मी की युगल छवि, शेषनाग की शैय्या पर विष्णु, गणेश सिद्धि-सिद्धि के साथ सिंह वाहिनी दुर्गा, भैरव, रुद्र के अतिरिक्त रामायण के पात्रों में रामचन्द्रजी का राजतिलक, सीता स्वयंवर, राम-रावण युद्ध, कुम्भकर्ण, हनुमान जी व सीता-राम, माता गंगा, समुद्र मंथन से प्राप्त चौदह रत्नों का चित्रण, ब्रह्माजी, मत्स्य पुराण संबंधी चित्र, माता काली का रौद्र रूप आदि धार्मिक चित्रण मिलता है। ईसाई धर्म से उदृत मेडोना व शिशु ईसा, परियों व माता मरियम के उल्लेखनीय चित्र धार्मिक विषय रहे हैं, जिनके माध्यम से सरल साधारण समाज में धार्मिक भावना की अनुभूति होती होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कला समय-समय पर धर्म से प्रेरित होती आई है।

'सीता स्वयंवर', प्राप्ति स्थान - गौरी मंदिर, देववृन्द, उ. प्र.

धार्मिक कथाओं के साथ-साथ धार्मिक प्रतीकात्मक विषयों की अभिव्यक्ति भारतीय कला की विशिष्ट उपलब्धि रही है। सहारनपुर जनपद के भित्ति चित्रों का विषय-क्षेत्र तथा उनका प्रतिरूपण भी प्रतीकात्मकता से प्रेरित रहा है। **"नौ रानी का हाथी"** में श्रीकृष्ण को माया के तीन गुणों तथा छ: इन्द्रियों की प्रतीक नौ नारी आकृतियों से

बने हाथी पर अंकुश धारी महावत के रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें श्रीकृष्ण के योगी रूप की अनुभूति हो जाती है। इसी भावना को लेकर अन्य चित्र **"नौ रानी का घोड़ा" "नौ रानी की पालकी"** भी चित्रित किए गए हैं, जिनमें गोपियों को श्रीकृष्ण को रिझाते हुए चित्रित किया गया है।

एक चित्र में विरहणी युवती की मनोदशा को कदली वृक्ष के प्रतीकात्मक आलम्ब से साकार किया गया है तो दूसरे चित्र में कदली वृक्ष को सामाजिक कल्याण तथा मंगलदायक के प्रतीक भाव से प्रेरित होकर चित्रित किया गया है।

'सागर मंथन से प्राप्त चौदह रत्न', स्थान – लखन लाल का मंदिर, चिलकाना कस्बा, सहारनपुर नगर, उ. प्र.

जनपद सहारनपुर में सर्वाधिक उल्लेखनीय राजसी स्त्री–पुरुषों के ठाट–बाट, उच्चवर्गीय स्त्री–पुरुषों के विश्राम के क्षणों में स्वामिनी का श्रृंगार करती हुई सेविकाएं, मदिरा–पान करते हुए विलास के क्षणों में उच्चवर्गीय व्यक्ति, नौका विहार करते, नर्तकी, दरबान, सैनिक, चौकीदार, नौकर–चाकर, उच्चाधिकारी, घरेलू कार्य करती महिला, बच्चे को गोद में लेकर पंखा झलती महिला, मां का वक्षपान करता हुआ बच्चा, एक लोक गाथा की नायिका, कुंवर निहालदे व नायक नरसुल्तान,दर्पण में अपनी छवि देखती हुई महिला, अपने माथे पर बिन्दी लगाती हुई नवयौवना, अपनी माँ को छोड़कर दर्पण की ओर ललकता हुआ बच्चा तथा कई ऐसे विषय हैं जो हमारे सम्मुख अभिजात्य तथा लोक जीवन की छवि को साकार प्रस्तुत करते हुए हैं।

'नौ रानी का हाथी', प्राप्ति स्थान – शिव मंदिर, ग्राम – कोटा, सहारनपुर नगर, उ. प्र.

भारतीय कला के सौन्दर्य विधान के लिए अनेक अलंकरणों तथा अभिप्रायों का प्रयोग हुआ है। इस अलंकारिक प्रवृत्ति के कारण भारतीय कला को विश्व कला में विशिष्टता प्राप्त हुई है। सहारनपुर जनपद के भित्ति चित्रों में कलाकारों ने अनेक प्रकार के एक से बढ़कर एक आकर्षक अभिप्रायों व आलेखनों की रचना की है। इन आलेखनों व अलंकरणों में पशु–पक्षियों का प्रयोग किया गया है, उनमें प्रमुख मछली, नाग, साँप, मोर, चील, बाज, कबूतर, तोता, मैना, हंस, कोयल, चिड़िया आदि का नैयनाभिराम चित्रण किया गया है। भित्ति चित्रण में जिन पेड़–पौधों तथा फूल–पत्तियों व बेलों का चित्रण किया गया है, उनमें प्रमुख अंगूर की बेल, बेल पत्र, गुड़हल के फूल, अमलतास के फूल, कमल के फूल व पत्ती,आम का पेड़, बरगद का पेड़ तथा गमले, गुलदस्ते, फलों की टोकरी, सब्जी की टोकरी तथा स्थानीय छोटे–छोटे पौधों का चित्रण किया गया है। जनपद के भित्ति चित्र यहां के कला वैभव के स्वर्ण युग के परिचायक हैं तथा वहाँ के इतिहास का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

डॉ. वंदना वर्मा
186/ए1, गली नं. 2
आर्यपुरी, मुजफ्फरनगर
उत्तर प्रदेश

आपका पत्र मिला

''भारत और जापान के सांस्कृतिक संबंध तब और अब'' लेख कई जानकारियां देता है। चित्र भी संग्रहणीय हैं। इतने उत्कृष्ट प्रकाशन के लिए बधाई।

हिमांशु जोशी, लेखक एवं पत्रकार, 7/सी-2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स,
मयूर विहार, फेस-I, दिल्ली-110091

पत्रा खोलते ही मां पर केन्द्रित कविता पढ़ने को मिली। कविता बहुत ही मार्मिक, उत्कृष्ट और चिन्तन को प्रेरित करने में समर्थ है। पत्रिका के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को बहुत अच्छे ढंग से सामने लाया जा रहा है। और भी अच्छा यह है कि पत्रिका में लोक संस्कृति तथा विदेशों के संदर्भ में भारतीय संस्कृति पर भी उपयोगी लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। कृपया मेरी ओर से बधाई स्वीकार करें।

डॉ. रमेश शर्मा 'दिविक रमेश', प्राचार्य, मोतीलाल नेहरू कॉलेज,
बेनीतो हुआरेज़ मार्ग, नई दिल्ली-110021

यह अंक वस्तुत: अपने आलेखों, प्रलेखों और शोधपूर्ण लेखों के लिए एक अनुपम अंक है। बिहार की लोक संस्कृति कोहबर घर की चित्रकारी के अद्भुत पोस्टर के लिए आपको विशेष बधाई। राजस्थान, बिहार की मनोहारी चित्रकारी ने इस अंक को एक अलौकिक आभा से भर दिया है। जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है, अपलक देखते रह जाना पड़ता है। पठनीय सामग्री बहुत रोचक और ज्ञानवर्धक है। संस्कृति की लोक लक्ष्मी से पाठक परिचित होता है। आपको बधाई।

बालकवि बैरागी (पूर्व सांसद), बापूधाम 169 - डॉ. पुखराज वर्मा मार्ग,
नीमच, मध्य प्रदेश - 458441

अपने विषय की यह अलग पत्रिका है जो संस्कृति से जुड़े विभिन्न पक्षों को सार्थक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है। डॉ. शिबानी राय एवं डॉ. अमरेन्द्र के लेखों ने मुझे पर्याप्त शिक्षित किया।

प्रेम जनमेजय, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

सरकारी होते हुए भी यह पत्रिका अपनी रचनाओं के कारण सभी कला-प्रेमियों के लिए संग्रहणीय है। ''मिथिला का कोहबर घर'' पढ़कर और चित्रों को देखकर चालीस साल पहले का अपना विवाह, उसके मधुर गीत, मधुर प्रसंग याद आ गए। कोहबर का चित्र तो फ्रेम कराने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इतने सुन्दर अंक को प्रकाशित करने के लिए साधुवाद।

डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, मुख्य प्रबंधक (रा.भा.), ऑयल एण्ड नेचुरल गैस कॉरपोरेशन लि.,
राजभाषा विभाग, तेल भवन, देहरादून-248003

संस्कृति का नया अंक पढ़ने के लिए मेरे सामने है जिसकी सभी सामग्री अपने आप में साहित्य के किसी-न-किसी पक्ष को विशेष रूप से प्रकाश में लाने वाली है। ''लोक-संस्कृति'' का संवर्द्धन प्राकृतिक स्रोतों के संरक्षण के समान है. . . डॉ. मंजुला राणा का आलेख, अत्यन्त प्रभावपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। 'मां' इस अंक की सर्वोत्तम कविता कही जा सकती है। इस अत्यंत समृद्ध साहित्यिक पत्रिका के अनूठे सम्पादन के लिए मेरी हार्दिक मंगलकामनाएं।

डॉ. महेश चंद्र, हिन्दी विभाग, मेरठ कॉलेज,
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ-250001

पिछले कई अंकों से पत्रिका लगातार मिल रही है, कमाल यह है कि इसके आने का इंतज़ार रहता है, मिलते ही सबसे पहले इसके चेहरे-मोहरे, काया-माया की खूबसूरती, पुष्टता और आकर्षण को कई-कई बार उलट-पुलट कर देखा-छुआ और महसूस किया जाता है। फिर पोस्टर प्रस्तुति तलाशी जाती है - अबकी बार क्या है, कैसा है की उत्सुक जिज्ञासा को साथ लिए और हर बार बहुत कुछ खास और संग्रहणीय ही मिलता है। भारत की सांझी संस्कृति, मानवीय मूल्यों व संस्कृति कला, साहित्य आदि के संरक्षण-संवर्द्धन की दिशा में कटिबद्ध-समर्पित दिखना निश्चय ही सुखद, आश्वस्तकर और प्रशंसनीय है। हर बार की तरह इस बार भी पत्रिका में प्रकाशित आलेख देश-विदेश से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण जानकारियों-सूचनाओं को अपने में समाहित किए हुए हैं।

डॉ. प्रेम कुमार, रीडर (हिन्दी विभाग), धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़

'संस्कृति' का 15वां अंक मेरे सामने है। पत्रिका की बाहरी साज-सज्जा से लेकर विषय-वस्तु की भीतरी गुणवत्ता तक - सभी से अभिभूत हूं क्योंकि संस्कृति अपने भीतर और बाहर के, समाज और परिवेश के, वर्तमान और अतीत के सुंदर, स्वस्थ मानवीय स्वरूप को जीवित और संवर्धित करते रहने की साधना का नाम है। श्रीनगर, मणिपुर, मिथिला एवं अंग जनपद आदि की संस्कृति को जानने के अतिरिक्त यह पत्रिका भारत-जापान, रोमानिया और अमेरिका महाद्वीप की प्राचीनतम सभ्यता का भी अंतरंग परिचय देती है। मानवीय गरिमा और मूल्यों को बचाए रखने के महत् उद्देश्य को समर्पित यह पत्रिका निश्चय ही सराहनीय प्रयास है। 'कोहबर घर' की कलात्मक पेंटिंग के पोस्टर के लिए धन्यवाद।

डॉ. रोहिणी अग्रवाल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

अपने नाम के अनुरूप ही पत्रिका में संस्कृति विषयक अनेक सारगर्भित और विशिष्ट आलेख हैं लेकिन इसके अलावा इतिहास, समाज, साहित्य, पर्यटन, चित्रकला और विदेशी सभ्यता के बारे में जानकारी देते आलेख भी हैं जो पत्रिका के फलक को बड़ा और उपयोगी बना देते हैं। भारत-जापान के द्विपक्षीय सांस्कृतिक संबंध को रेखांकित करता आलेख पत्रिका को एक अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करता है। इसके साथ ही उत्तर भारत के मैथिली, वज्जिका, अवधी आदि भाषा क्षेत्रों की एक बेहद महत्वपूर्ण वैवाहिक प्रथा 'कोहबर घर' से संबंधित मृदुला सिन्हा का आलेख हमें देशज और ग्रामीण प्रथा-परम्पराओं की सैर करा जाता है। तत्संबंधी पद्मश्री गंगा देवी का पोस्टर मनभावन है। कुल मिलाकर बेहद सुरुचिपूर्ण, साज-सज्जापूर्ण और देशज-विदेशी संस्कृतियों से परिचय कराते उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक आलेखों की प्रस्तुति के द्वारा आप समकालीन सुधी पाठकों का बड़ा उपकार कर रहे हैं।

डॉ. बलदेव सिंह, मुख्य सम्पादक एवं संयुक्त निदेशक
नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली

'संस्कृति' पत्रिका का अंक-15 प्राप्त हुआ। इसमें संकलित 'मां' कविता मन को खूब भाई क्योंकि इसमें आपने मातृत्व की स्वानुभूतियों को बड़ी सरल और लोक-कथा परक उदाहरणों से भली प्रकार चिन्हित किया है। एतदर्थ हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए। अन्य लेख भी पठनीय हैं। 'भारत और जापान के सांस्कृतिक संबंध तब और अब', 'अमेरिका महाद्वीप की प्राचीनतम सभ्यता : कराल सूपे' एवं 'रोमानिया में भारतीय दृष्टि निरंतरता' जैसे लेखों में भारतीय संस्कृति को अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का मंजुल प्रयास है। 'मिथिला का कोहबर घर' की चित्रावलि भी प्रशंसनीय है।

डॉ. नवरत्न कपूर, फ्लैट नं. 901 (9वां तल), टॉवर डी-3, सागर दर्शन सोसायटी,
पाम बीच रोड, सेक्टर-18, नेरूल (नवी मुम्बई) - 400706

'संस्कृति' का सारगर्भित दस्तावेजी नवीन अंक प्राप्त हुआ। प्रत्येक अंक धरोहर है मेरे लिए। संस्कृति को पढ़ना अपने देश की माटी के विविध रंगों और सुगन्धियों से सुवासित होने जैसा है। 'कोहबर घर' का पोस्टर तो मैंने फोटो फ्रेम के लिए तत्काल भेज दिया। यह जो उपहार आप देते हैं 'संस्कृति' के माध्यम से सचमुच अमूल्य है। इस अंक की उपलब्धि है डॉ. शिबानी राय का लेख - 'उत्तर पूर्व भारत की संस्कृति में मणिपुर की अनाल जनजाति का योगदान'। कृपया सुंदर जटिल प्रदेशों की लगभग अपरिचित और अचर्चित जन-जातियों की परम्पराओं और उनकी विशिष्टताओं से सचित्र परिचय नियमित करवाते रहें। यह ज्ञानवर्धक श्रृंखला हम सभी पाठकों के लिए आनंददायी साबित होगी और उपयोगी भी। मेरा यह भी सुझाव है कि प्रत्येक अंक में हो सके तो इन जन-जातियों में प्रचलित उस प्रदेश की कोई लोक कथा अवश्य दी जाए क्योंकि लोक कथाएं निश्चय ही वहां के लोक मानस की संघर्षशीलता और उनके जीवन मूल्यों को उद्घाटित करती उनकी आस्थाओं और विश्वासों का प्रतिबिम्ब होती है।

सुश्री चित्रा मुद्गल, बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स
मयूर विहार, फेस-I, दिल्ली-110091

संस्कृति मंत्रालय की बहु प्रतीक्षित अर्ध वार्षिक पत्रिका 'संस्कृति' मिली। मुझे प्रसन्नता इस बात की अधिक है कि 'संस्कृति' ने अपनी गुणवत्ता की परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। इसका हर अंक भारतीय संस्कृति का एक बेहतरीन दस्तावेज होता है। भारतीय संस्कृति से जुड़े बहुत से क्षेत्रों में अभी भी बहुत सा अज्ञात है। 'संस्कृति' इसी अज्ञात को प्रकाश में लाने का एक स्तुत्य प्रयास कर रही है। पत्रिका के अंक के साथ किसी-न-किसी कला शैली पर दिया जाने वाला पोस्टर तो बहुमूल्य सौगात है। एक आग्रह है कि पत्रिका में ग्राम अंचल, विशेषकर जनजातीय लोक संस्कृति की भी बात होनी चाहिए। जनजाति क्षेत्रों एवं ग्राम्यांचलों में बहुत कुछ है। समय के साथ उसकी नैसर्गिक सुन्दरता लुप्त होती जा रही है। सुन्दर और उपयोगी अंक के लिए बधाई।

श्री युगेश शर्मा, लेखक एवं पत्रकार,
11 सौम्या एन्कलेव एक्सटेंशन, सियाराम कॉलोनी, चूना भट्टी, भोपाल-462016

जनजातीय लोक संस्कृति पर भी लेख प्रकाशित किए जाते हैं। प्रस्तुत अंक में हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति पर एक लेख दिया जा रहा है।

सम्पादक

पत्रिका के माध्यम से आप भारतीय संस्कृति की परम्पराओं, लोक संस्कृति , पुरातत्व, भारतीय कला, लोक-साहित्य के विषय में महत्वपूर्ण और अल्पज्ञात पक्षों की जानकारी देकर भारतीय संस्कृति के उन्नयन में उल्लेखनीय योगदान कर रहे हैं। जिस प्रकार की सामग्री इस अंक में संयोजित है, उसी से पत्रिका से जुड़े तमाम लोगों के समर्पण-भाव का पता चलता है। कविता 'मां' मन को छू गई। अंक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है मृदुला जी का 'कोहबर घर' पर विचारपरक आलेख। लौह युग के आरम्भ, लोहे के उपयोग की आवश्यकता और प्राचीन लौह उपकरणों के संबंध में दी गई जानकारी ज्ञानवर्धक है। पुरातत्व और उत्खनन संबंधी आलेखों से धरती के गर्भ में छिपी प्राचीन सभ्यता का परिचय मिलता है। देश में ही नहीं, विदेशों में भी भारतीय संस्कृति के पद-चाप की आहट सुनाई देती है। इसके लिए सम्पूर्ण 'संस्कृति' परिवार को बधाई एवं शुभकामनाएं।

श्री सूर्यकान्त नागर, विशेष सम्पादक 'वक्रोक्ति'
81, बैराठी कॉलोनी नं. 2, इन्दौर - 14

पहले की तरह यह अंक भी पर्याप्त मनोरम और अर्थवान है। विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों को गहराई से समझने की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी और भव्य पत्रिका है। मोहक चित्र, महत्वपूर्ण सामग्री और सुरुचिपूर्ण प्रस्तुति से यह संग्रहणीय बन गई है।

शम्भु बादल, सम्पादक (प्रसंग), सूरज-घर, जबरा रोड, कोर्रा,
हजारीबाग-825301

पत्रिका के बीच में बिहार की संस्कृति से जुड़े 'कोहबर घर' से संबंधित चित्रकारी का पोस्टर वस्तुत: मुझे पसंद आया। इस अंक में छपी 'मां' कविता, 'संस्कृति का अर्थ', 'विक्रमशिला', 'प्राचीन मनसर महाविहार की ऐतिहासिक खोज' निबंध विशेष रूप से तारीफ के काबिल हैं।

डॉ. सर्जुन प्रसाद, पुरातत्वविद्, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण,
पुराना किला, नई दिल्ली-110001

पत्रिका को देखकर प्रसन्नता हुई कि पत्रिका ने सामग्री और सज्जा दोनों मामलों में अपनी पूर्व परम्परा को जारी रखा है। देश के किसी एक अंचल की चित्रकारी की पोस्टर प्रस्तुति पाठकों को भारतीय चित्रकारी के ज्ञान से समृद्ध बनाने का आधार बनती है। इस अंक में बिहार की लोक संस्कृति से जुड़े 'कोहबर घर' की पोस्टर प्रस्तुति भी बहुत सुन्दर और संग्रहणीय है।

कैलाशचन्द्र पन्त, मंत्री संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति
हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-462002

''संस्कृति'' सही मायनों में भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा का सिंहावलोकन प्रस्तुत करती है। आवरण से अंतिम पृष्ठ तक मनोरम कला कृतियों से सजी यह पत्रिका यदि हमारी रचनात्मक एवं कलात्मक विरासतों की अनुपम सौगात की तरह है तो ऐतिहासिक, ज्ञानवर्द्धक लेख हमारी चेतना के लिए संजीवनी, कुल मिलाकर एक अनिवार्य, अपरिहार्य पत्रिका है।

डॉ. सूर्यबाला, बी/504, रुनवाल सेन्टर
गोवंडी स्टेशन रोड, देवनार (चेम्बूर), मुम्बई-400088

'संस्कृति' का 15वां अंक प्राप्त करना सौभाग्यसूचक हुआ। भारतीय संस्कृति से संदर्भित विभिन्न पक्षों को प्रदर्शित करने वाले शोधपूर्ण तथा तथ्यात्मक लेखों से सुसज्जित पत्रिका नि:संदेह अपने उद्देश्य में परिपूर्ण है, जिन्हें चित्रों ने जीवंत किया है। बिहार की लोक संस्कृति से जुड़े 'कोहबर घर' से संबंधित चित्रकारी की पोस्टर प्रस्तुति तो 'अतुल्य भारत' का दर्पण है।

अनन्त चौरसिया, 3/18 तपेश्वरीप्रसाद मार्ग,
मलकाना, सण्डीला - 241204 उ.प्र.

'कोहबर घर', 'भित्ति चित्र' विशेष रूप से भारतीय संस्कृति का वाहक होने के साथ-साथ जनमानस की जीवन शक्ति के उद्घोषक भी हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में मंत्रालय की ओर से यह प्रयास अति सराहनीय है।

डॉ. शशि शर्मा, ए/12 दीप सागर
रिजेन्सी होटल के सामने, अंधेरी पूर्व, मुम्बई - 400069

पत्रिका देखकर अभिभूत रह गया। डॉ. प्रमोद कुमार दुबे का लेख ''संस्कृति का अर्थ'' अति विचारपूर्ण रचना लगी। कराल सूपे सभ्यता का संक्षिप्त परिचय ज्ञानवर्धक रहा। पत्रिका में देश के विभिन्न भागों की संस्कृति का, लोक संस्कृति का ही खुलासा नहीं है इसके तार विदेशों से भी जुड़े हैं। भीतरी अंतिम आवरण पर ''फड़'' कला का नमूना हृदयग्राही है। ''मां'' नामक कविता में भारतीय मां का मार्मिक चित्रण हुआ है।

सुधीर निगम, 104-ए/315 रामबाग, कानपुर-208012

'संस्कृति' का 15वां अंक मिला। आर्ट पेपर पर मुद्रित रोचक, ज्ञानवर्द्धक एवं स्तरीय सामग्री के कारण यह एक संग्रहणीय अंक लगा। डॉ. सर्जुन प्रसाद, डॉ. आर.के. तिवारी, डॉ. शिवानी राय, डॉ. मृदुला सिन्हा, डॉ. उनीता सच्चिदानंद, डॉ. रणजीत साहा के लेख बड़े रोचक एवं प्रामाणिक जानकारी से सम्पन्न हैं। इस अंक के लिए आपको बधाई एवं शुभकामनाएं देता हूं। यह पत्रिका भारतीयों एवं विदेशियों के बीच एक सेतु का काम करेगी।

डॉ. सुधेश, ए-34, न्यू इंडिया अपार्टमेंट्स, रोहिणी, सेक्टर-9, दिल्ली-110085

'संस्कृति' के 15वें अंक के संबंध में पाठकों से प्राप्त हुई प्रतिक्रियाओं और उत्साहवर्धक पत्रों के लिए निम्नलिखित का भी आभार :-

- **डॉ. एस.वाई. कुरैशी,** निर्वाचन आयुक्त, भारत निर्वाचन आयोग, निर्वाचन सदन, अशोक रोड, नई दिल्ली-110001
- **डॉ. अमरेन्द्र,** अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सी.एन.डी. कॉलेज, बांका, बिहार
- **प्रो. योगेश चन्द्र शर्मा,** उपाध्यक्ष, राइटर्स एसोसिएशन ऑफ राजस्थान, 10/611, कावेरी पथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 (राजस्थान)
- **श्री चैतन्य त्रिवेदी,** 16ए, अन्नपूर्णा नगर, इन्दौर - 452009 (मध्य प्रदेश)
- **श्री केशव शरण,** एस 2/564, सिकरौल, वाराणसी - 221002
- **डॉ. सुधार मंडल,** पी2/1, स्टाफ क्वार्टर्स, के.वी. नं. 3, नारायणा, नई दिल्ली-28
- **श्री राजेश कुमार जादोंन,** सहा. निदेशक (रा.भा.) नेहरू युवा केन्द्र संगठन, द्वितीय तल, कोर-IV, स्कोप मीनार, लक्ष्मी नगर जिला केन्द्र, विकास मार्ग, दिल्ली - 110092
- **डॉ. कमलेश सिंह,** 6ए, कटरा रोड, इलाहाबाद-211002
- **डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय,** क्यूरेटर, भागलपुर म्यूजियम, भागलपुर, बिहार सरकार, भागलपुर-812001
- **श्री बलराम अग्रवाल,** एम-70, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032
- **डॉ. कमल वासिष्ठ,** श्री कोटेश्वर रोड, अनामिका स्कूल के पास, ग्वालियर-12 (मध्य प्रदेश)
- **डॉ. हरिसिंह पाल,** 684 इन्द्रा पार्क, नई दिल्ली - 110045
- **श्री चन्द्रप्रकाश पाण्डेय,** बी-505, कैलाश विहार, आवास विकास योजना-1, कल्यानपुर, कानपुर-208017 (उत्तर प्रदेश)
- **श्री जीवन सिंह ठाकुर,** 422, अलका पुरी, देवास-455001 (मध्य प्रदेश)
- **श्री अशोक अंजुम,** सम्पादक प्रयास, 615, ट्रक गेट, कासिमपुर, अलीगढ़-202127
- **श्री आर. स्वामीनाथन,** स्वागतम, एच.टी.सी., 14/8-राजेश्वरी नगर, मयिलादुतुरै, तमिलनाडु-609001
- **सुश्री रमणिका गुप्ता,** अध्यक्ष, रमणिका फाउंडेशन, मेन रोड, हजारीबाग, झारखंड-825301
- **सुश्री सुधा गोयल,** यूको बैंक लेन, 290ए, कृष्णा नगर, बुलन्दशहर-203001
- **सुश्री सिम्मी हर्षिता,** के-24, लाजपत नगर-ढ्ढढ्ढ नई दिल्ली-110024
- **श्री सलीम खां फरीद,** हसामपुर-332718, सीकर (राजस्थान)
- **डॉ. पद्मा देवी,** 53/31 लक्खी बाग, देहरादून (उत्तरांचल)

- 'संस्कृति' पत्रिका अर्द्धवार्षिक है।
- 'संस्कृति' के लिए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर गवेषणात्मक, शोधपरक, विचारोत्तेजक तथा भावपूर्ण लेख आमंत्रित हैं।
- देश-विदेश की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्यकलापों तथा प्रयोगों संबंधी अधिकृत सूचना पर आधारित लेख भी भेजे जा सकते हैं, लेकिन इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाए कि लेख वस्तुनिष्ठ व पूर्णरूपेण निष्पक्ष हों।
- लेख मौलिक और अप्रकाशित हों।
- अन्य भाषाओं के संस्कृति विषयक लेखों के हिन्दी अनुवाद भी भेजे जा सकते हैं, परन्तु अनुवाद और प्रकाशन के लिए मूल रचनाकार (अथवा जिसके पास उस रचना का सर्वाधिकार हो) की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही उसे 'संस्कृति' में प्रकाशनार्थ भेजा जाए।
- लेखक द्वारा प्रतिपादित विचार उसके अपने होते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि वे सरकार के दृष्टिकोण या सहमति को व्यक्त करते हों।

'संस्कृति' के आगामी अंक से समीक्षा स्तम्भ प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया है, जिसके अंतर्गत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध विषयों पर सद्य प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षाएं प्रकाशित की जाएंगी। अतः सुयोग्य विद्वानों द्वारा की गई पुस्तकों की समीक्षाएं पुस्तक की एक प्रति के साथ प्रकाशनार्थ भेजी जा सकती हैं अथवा समीक्षा हेतु हाल ही में प्रकाशित पुस्तकों की दो-दो प्रतियां भेजी जाएं।

Printed at India Offset Press, New Delhi-110064 (M) 9811526314

राजा रवि वर्मा, महिला का चित्र, कैनवास पर तैलरंग (863x120 से.मी.), सौजन्य–राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, दिल्ली